द्वारका में सुदामा जी का भगवान् द्वारा सत्कार

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(पचासवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

द्वितीय संस्करण]
१००० प्रति

श्रावण २०२८
जुलाई १९७१

[मूल्य—~~१.६५~~ २

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय — पृष्ठाङ्क

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथम खंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

धर्मराज का राजसूय यज्ञ

[११५०]

मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।
अयाजयन् महाराज याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७४ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

जरासन्ध वध वृत्त सुनत नयननि जल छाये।
नृपति भये अति दीन विनययुत वचन सुनाये॥
प्रभो! आप ई राजसूयकी दीक्षा लेवें।
अथवा सेवक समुझि दास कूँ आयसु देवें॥
बाले हरि-'कुरु कुल तिलक! राजसूय मख करहु तुम।
भरे कोष जीते नृपति, सम्मुख सेवक सकल हम॥

यज्ञ यागादि शुभकर्म उन्हीं के सफल होते हैं, जिन पर भगवान् की कृपा होती है। भगवत् कृपा के बिना शुभ कर्म सम्पन्न ही

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन! राजसूय यज्ञ मे निमन्त्रित होकर आये हुए राजाओं के बिना किसी प्रकार का विस्मय प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् के अनन्य भक्त धर्मराज के इस वैभवशाली यज्ञ को उचित ही समझा। देवताओं के सदृश तेजस्वी याजकों ने धर्मराज से राजसूय यज्ञ विधिवत् उसी प्रकार कराया, जिस प्रकार प्राचीन काल मे वरुणदेवजी से देवताओं ने कराया था।

नहीं हो सकते। भगवद्भक्त जो चाहे सो कर सकता है। जिनके सिर पर श्यामसुन्दर हैं, उन्हें संसार में कठिन कुछ भी नहीं है, वे जो चाहे सो कर सकते हैं। कठिन काम भी उनके लिये सरल बन जाता है, असभव भी सभव हो जाता है। दुष्कर भी सुकर बन जाता है और अपूर्ण भी पूर्ण हो जाता है। इसलिये भगवान् के पाद पद्मों में प्रेम हो इस बात का ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् में भक्ति हो जाने पर तो जगत् के बड़े से बड़े समझे जाने वाले कार्य सामान्य से हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी की कृपा से पृथ्वी के समस्त राजा धर्मराज के अधीन हो गये। उनके कोषागार धन, रत्नों तथा मणि माणिक्यों से परिपूर्ण हो गये, तब उन्होंने एक दिन भगवान् से अत्यत ही नम्रता के साथ निवेदन किया—"यदुनन्दन! आपकी अनुग्रह से अब मैं अनुभव करने लगा हूँ, कि अब राजसूय यज्ञ हो सकता है। पृथ्वी पर अब ऐसा एक भी राजा नहीं जिसने आपकी अधीनता स्वीकार न कर ली हो। इन्द्रप्रस्थ के कोषागारों में इतना अधिक धन भर गया है, कि वह वर्षों तक लुटाया जाय, तो भी समाप्त नहीं हो सकता। अतः मेरी इच्छा है राजसूय यज्ञ इन्द्रप्रस्थ में हो और आप ही यज्ञ की दीक्षा लें क्योंकि समस्त यज्ञों को करने कराने वाले तथा भोक्ता हविर्दाता आप ही हैं। आप ही हवि हैं, आप ही अर्पण हैं, आप ही अग्नि हैं आप ही यजमान, ऋत्विज, सदस्य और सभापति हैं। अतः आप भगवती रुक्मिणी के सहित राजसूय यज्ञ में दीक्षित हो।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान बोले—"धर्मराज! राजसूय यज्ञ करने की योग्यता तो आप में ही है। आप द्रौपदी के साथ यज्ञ की दीक्षा लें। आपके यहाँ किसी वस्तु का अभाव नहीं है।

आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करने वाले हम सब सेवक समुपस्थित ही हैं। अब आप विलम्ब न करें।"

यह सुनकर धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने अपने चारों भाइयों और मन्त्रियों को बुलाकर उनसे कहा—"राजसूय यज्ञ करना है। दही दूध, तथा घृत आदि रखने को बड़े बड़े पक्के कुंड बनवाओ वे इस प्रकार खोदे जायँ कि उनमें मुख दिखाई दे। उनके ढकने चदन की लकड़ियों के हों। तिल, जौ तथा चावलों का पर्वत लगा दो। गुड़ शक्कर बूरे की बोरियाँ भरवा भरवा कर चुनवा दो। ब्राह्मणों के लिये सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों को एकत्रित करो। सुन्दर मिठाई बनाने वाले देश देशान्तरों से पाचक बुलवाओ। चटनी के सब मसाले, रायते की वस्तुएँ, साठ के लिये किसमिस गोला, छुआरे विपुल मात्रा में मँगवालो। पापड़ अभी से बनवा कर सुखवा लो। दालमोट का प्रबन्ध कर लो फलाहारियों के लिये फलाहारी वस्तुएँ मँगाओ। दुग्धाहारियों के लिये तथा और के लिये दूध की मिठाइयाँ बनवाओ। साराश यह है, कि किसी भी वस्तु का अभाव न हो। किसी के माँगने पर यह न कहना पड़े, कि अमुक वस्तु हमारे यहाँ नहीं है। यज्ञ में आकर जो भी जिस समय भी जिस वस्तु की याचना करे, उसे उसी समय वही वस्तु तत्काल मिलनी चाहिए।"

सभी ने एक स्वर से कहा—"हाँ, प्रभो! ऐसा ही होगा। हम अभी सब प्रबन्ध किये देते हैं।"

यह कहकर सबने मिलकर यज्ञ सम्बन्धी सभी सामग्रियों को एकत्रित कर लिया। भगवान् वेदव्यास को इस यज्ञ का प्रधान बनाया गया। उन्होंने यज्ञ करने में निपुण बड़े-बड़े ऋषि मुनियों को आदमी भेज भेज कर बड़े सम्मान के साथ बुलवाया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के दर्शनों की इच्छा से तथा धर्मराज के प्रेमपूर्वक आग्रह को मानकर बड़े बड़े महर्षि तथा राजर्षि राजसूय यज्ञ में

पधारे। उनमें कुछ मुख्य-मुख्य ये थे। भगवान् वेदव्यास तो उस यज्ञ महोत्सव के अध्यक्ष ही थे। उनके अतिरिक्त भरद्वाज, सुमन्तु गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनी, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, राम, भार्गव, आसुरि, वीत-होत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन और महामुनि अकृतव्रण आदि और भी बहुत से वेदवित् ऋषि मुनि थे।

धर्मराज ने अपने भाई नकुल को स्वयं हस्तिनापुर भेजा, कि वे जाकर हमारे कुल के सब लोगों को बड़े आदर सत्कार के साथ ले आवें। धर्मराज की आज्ञा पाकर नकुल हस्तिनापुर गये। वहाँ उन्होंने सबको आदर पूर्वक आमन्त्रित किया। भीष्म, धृतराष्ट्र तथा विदुर आदि यह सुनकर बड़े हर्षित हुए कि हमारे कुल में एक ऐसे भी हुए जिन्होंने राजसूय यज्ञ की दीक्षा ली है। इस यज्ञ को या तो वरुणदेव ने किया है या चन्द्रदेव ने। वे सबके सब परम हर्षित होकर इन्द्रप्रस्थ की ओर चले। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कर्ण, शल्य, बाह्लीक, सोमदत्त, भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, जयद्रथ, यज्ञसेन तथा अन्यान्य बहुत से राजा भी राजसूय यज्ञ को देखने चले। दुर्योधन तो मन ही मन पांडवों से जलता था उनके ऐश्वर्य से उसे आन्तरिक ईर्ष्या थी वह उनके यज्ञ में जाना नहीं चाहता था किन्तु लोक लाज और कुल व्यवहार के कारण उसे जाना ही पड़ा। वह भी बड़े ठाट-बाट से अपने सब भाइयों सहित राजसूय यज्ञ में आया। सभी देश देशान्तरों के राजा डेरा डाले गंगा के किनारे-किनारे योजनों तक पड़े थे। हाथी घोड़ा और रथों के कारण यज्ञस्थल एक विशाल नगर के समान प्रतीत होता था। अंग, बंग, कलिंग, सौराष्ट्र, मगध द्रविण, पाटव, चीन, कुन्तल, मालव, कश्मार, वाल्हीक तथा मात्स्यों लचो पधारे राजा धमराज क राजसूय यज्ञ को देखने

आये थे। धर्मराज ने सबके स्वागत सत्कार का अत्यंत ही सुन्दर प्रबन्ध किया था। उन्होने एक स्वागत कारिणी समिति बना दी थी। उसके प्रधानाध्यक्ष थे द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह। समिति के कार्य सचालन का पूरा भार इन दोना के ही अधीन था। धर्मराज ने इनका सर्वाधिकार दे रखा था। ये स्याह सफेद जो चाहे सो करे सब कार्यों के लिये उप समितियाँ बना दी थीं। उनके एक एक दो दो अध्यक्ष बना दिये थे। भोजन भडार का काम उन्होंने भीम को सौंपा था क्योंकि जो स्वय खाना नहीं जानता वह दूसरों को क्या खिलावेगा। भोजनो का प्रबन्ध ऐसे को ही सौंपना चाहिये जिसे स्वय भोजन करने कराने मे रुचि हो। भीमसेन सवामन हलुए का तो जलपान ही करते थे। उन्हे जब जलपान की इच्छा होगी, तो उन्हें दूसरो का भी ध्यान रहेगा। इस लिये भोजन का भार उनको दिया गया। किन्तु उनमें एक त्रुटि थी वे घर के थे, धर्मराज के सगे भाई थे, कभी व्यय करते-करते उनके मन में लोभ न आ जाय, मुक्त हस्त से सबको देने में सकाच न करने लगें। कहीं यह न सोचें अन्न व्यर्थ जा रहा है, अतः उनके साथ ही दुःशासन को भी भोजन विभाग मे अध्यक्ष बनाकर रखा कि दोना हाथो से लुटावे। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का ब्राह्मणो की सेवा सत्कार मे नियुक्त किया। यज्ञ में जो भी ब्राह्मण आवें उनका यथोचित सेवा सत्कार वे अपने सहयोगियों को साथ लेकर करें। सञ्जय को आगत राजाओं के स्वागत सत्कार का काम दिया गया। जो राजा भेंट लेकर आवें उनसे भेंट लेने का काम दुर्योधन को दिया गया। यह दुर्योधन का सबसे बडा सम्मान था। राजा लोग कुल वृद्ध को ही आकर भेंट देकर प्रणाम करते हैं। दुर्योधन सम्राट् की भाँति सबकी भेंट स्वीकार करता और सबके प्रणामों को स्वीकार करता।
को ब्राह्मणों के लिये दक्षिणा देने का काम सौंपा

ब्राह्मण को जितना चाहें धन रत्न दे दें। जो राजा यज्ञ देखने आवें उनका माला, चन्दन ताम्बूलादि से स्वागत सत्कार करना यह सहदेवजी का काम था। जिस विभाग के लिये जो भी वस्तु आवश्यक हो उसके जुटाने और संग्रह करने का काम नकुल को सौंपा गया। अर्जुन का एक मात्र कार्य यह था भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा अन्यान्य पूज्यजनों का सब प्रबन्ध ठीक हो रहा है या नहीं इनके सहकारी सेवक समय से लगन के साथ कार्य कर रहे हैं या नहीं। उन्हें किसी बात की असुविधा तो नहीं है। इसी बात की वे समीक्षा करते रहते। दानाध्यक्ष का कार्य महामना कर्ण को सौंपा गया। क्योंकि जिसे धन मे तनिक भी ममत्व होगा, वह खुलकर मुक्त हस्त से दान न कर सकेगा। संसार मे कर्ण के समान दूसरा दानी कोई था ही नहीं। अतः दान देने पर वे ही नियुक्त किये गये। भोजन परसने का काम स्वयं द्रौपदीजी ने तथा उनके भाई धृष्टद्युम्न और शिखंडी ने लिया। यज्ञ मे व्यय करने का काम विदुरजी को दिया गया। इनके अतिरिक्त सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, भूरिश्रवा और अन्यान्य वाह्लीक पुत्र सतर्दनादि अन्य बहुत से विभागों के अध्यक्ष बनकर यज्ञ में सेवा कार्य कर रहे थे।

जब धर्मराज सबको पृथक् पृथक् कार्य बाँट रहे थे, तब भगवान् वासुदेव ने पूछा—"राजन्! हमें भी कोई कार्य दीजिये।"

स्नेहभरित कंठ से गद्गद होकर धर्मराज ने कहा—"वासुदेव! आप ही तो सब कर रहे हैं करा रहे हैं। आप तो सबके स्वामी हैं आपको को काम देने वाला कौन है, जो इच्छा हो वह कीजिये।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"नहीं, राजन्! ऐसे कहने से काम न चलेगा। मुझे भी यज्ञ में कोई छोटा मोटा कार्य सौंपा जाय।"

धर्मराज ने कहा—"माधव! मैं कह तो रहा हूँ, आपको जो अच्छा लगे, वही काम आप ले लें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, सब अतिथि ऋषिमुनि पैरों से ही चलकर यज्ञ मण्डप में पधारेंगे। चरणों के अधिष्ठातृ देवता भगवान् विष्णु हैं और श्री विष्णु के ही प्रीत्यर्थ आप यज्ञ कर रहे हैं। आगत अतिथियों के चरण पखारन से यज्ञ की सेवा का सर्वश्रेष्ठ फल मिलेगा। अतः मैं ऋषि मुनिया के चरण धाने का काम लेता हूँ।" यह सुनकर सबके नेत्रा से प्रेम के अश्रु झर झर करके झरने लगे। धर्मराज ने कहा—"हाँ, प्रभो! यह काम तो आपके अनुकूल ही है। तभी तो आपका नाम ब्रह्मण्यदेव सार्थक होगा। यज्ञ मे आगत अतिथि अपनी आँखों से इस अद्भुत और अपूर्व दृश्य को स्वय देखें।"

भगवान् ने कहा—"चाहे जो हो मैं तो यज्ञ में यही सेवा करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह कहकर भगवान् ने ब्राह्मणा के चरण धोने का काम अपने ऊपर लिया। भगवान् के करकमल अति ही मृदुल थे। उनकी गद्दियाँ बडी गुदगुदी थीं, उनमे से निरन्तर दिव्य कमल जैसी गन्ध निकलता थी। जब वे अपनी दोना मृदुल गुदगुदी गद्दियों के बीच मे मुनियो के चरणो को दबाते और उन खुरदुरे पैरो की बडी बडी बिवाइयो के बीच मे भरी कीच को अपनी सुकुमार उँगलियों से कुरेद कर निकालते, उस समय मुनियों का मन मुकुर खिल जाता। वे ब्रह्मानन्द मे निमग्न हो जाते। उन्हें बडा सुख प्रतीत होता अभी पैर धुलाकर गये हैं। कुछ देर म इधर उधर फिर कर फिर पैर धुलाने आगये हैं। भगवान् न तो खानते ही थे न बुरा ही मानते जो जितने बार पैर धुलाने आता उतने ही बार बडे प्रेम से धो देते।"

उसी समय दुर्वासा मुनि कहीं से घूमते घामत चले आये। उन्हे देखकर सभी डर गये। उनके पास तो शाप की पुटली बँधी हर समय रखी रहती थी। कोई उनके सम्मुख नहीं गया, न जाने

किस बात पर कुपित होकर शाप दे दें। आकर द्वार पर खड़े हो गये। भगवान् भी डर रहे थे, उनके सम्पूर्ण चरण कीच में सने हुए थे भगवान् उनके चरणों को धो तो रहे थे, किन्तु उनके हाथ काँप रहे थे। दुर्वासा भी सम्भव है, यह सोचकर ही आये होंगे, कि मैंने सबको तो शाप दिया है, यदि मैंने कृष्ण को शाप न दिया तो फिर मेरा नाम दुर्वासा ही कैसा ?" भगवान् तो अन्तर्यामी हैं सबके घट घट की जानने वाले हैं। वे समझ गये, मुनि मुझे शाप देना चाहते हैं। अच्छी बात है मुझे तो जो प्रेम से पत्र पुष्प, जल, फल यहाँ तक विष भी देता है उसे भी मैं स्वीकार करता हूँ। पूतना मुझे विषपान कराने आई थी। मैंने विष का भी पान कर लिया और ब्याज में उसके प्राणों को भी पी गया। यही सब सोचकर उन्होंने चरण धोते धोते बायें पैर के नीचे थोड़ी सी कीच लगी छोड़ दी। अब क्या था, दुर्वासाजी ने अपना शाप रूपी अमोघ अस्त्र छोड़ ही तो दिया। वे बोले—"कृष्ण ! तुम्हें बड़ा अभिमान है। तुमने सेवा का कार्य लिया है और उसे भली भाँति निभाते नहीं। देखो, मेरे पैर के बीच में कीच लगी रह गया, अत मैं तुम्हें शाप देता हूँ, तुम्हारे भी पैर के बीच में बाण लगेगा और उसी से तुम्हारे शरीर का अन्त होगा।"

भगवान् ने सिर झुकाकर मुनि के शाप को सहर्ष शिरोधार्य किया। पीछे मुनि को पश्चात्ताप भी हुआ, किन्तु भगवान ने यह कहकर उन्हें आश्वासन दिया, कि यह सब मेरी ही इच्छा से हुआ आप इस विषय में चिन्ता न करें।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार धर्मराज का यज्ञ बड़ी ही धूमधाम के साथ होने लगा। चारों ओर वेद ध्वनि सुनायी देता था। भोजना की वहाँ किसी को रोक टोक नहीं थी जो जितना चाहो आकर खाओ, इच्छानुसार बाँधकर ले जाओ। जिसने जिस वस्तु की याचना की उसे वह वस्तु तुरन्त दी गयी।

उस यज्ञ में भात के पर्वत लगे हुए थे। दाल, कढ़ी, खीर, रायते तथा श्रीखण्ड आदि के कुंड भरे थे। खाने की ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जो प्रचुर मात्रा में वहाँ न रखी हो। याचकों को इतनी वस्तुएँ दी गयीं कि वे दाता बन गये। ब्राह्मणों को इतनी दक्षिणा दी गयी कि वे उसे उठाने में भी असमर्थ हुए। इस प्रकार धर्मराज का वह राजसूय यज्ञ बड़ी धूमधाम के साथ समाप्त हुआ। अब जैसे भगवान् की उसमें अग्रपूजा होगी। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि यज्ञ के ठाठ रचाये।
करम काड महँ कुशल वेदविद विप्र बुलाये॥
सुनत कण्व, त्रित, कवस, असित, क्रतु, पैल, पराशर।
गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, राम आदिक सब मुनिवर॥
आये मख महँ मुदित मन, अति स्वागत सबको करयो।
चरन पखारत प्रभुहिं लखि, नयन नीर सबके भरयो॥
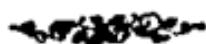
भगवान् की अग्रपूजा

[११५१]

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ७४ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

धूमधाम अति मची लेहु धन भोजन पाओ।
मनमाने धन रतन बाँधिके घर लै जाओ॥
कहें नारि नर यज्ञ न ऐसो देख्यो कबहूँ।
जल सम बरसत कनक चुकत नहिँ तनिकहु तबहूँ॥
परब सोमरस पान दिन, करि याजक पूजन नृपति।
प्रथम सभासद पूज्य को, जामें मच्यो विवाद अति॥

ससार मे पूजा भग की होती है। समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छै वस्तुओं का नाम भग है। जिसमें ये छै वस्तु, पूर्णरूप से विद्यमान हो वे ही भगवान् कहाते हैं। जहाँ भी पूजा प्रतिष्ठा होती है इन्हीं छे कारणों से होती है। जो ऐश्वर्यशाली होते है, वीर्यवान्, यशस्वी, श्रीमान्, ज्ञानवान्,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— 'राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणो का कथन श्रवण करके तथा सभासदो के हृद्गत भावो को जानकर एव प्रेम मे अत्यन्त विह्वल होकर परम प्रसन्नता के साथ भगवान् हृषीकेश की पूजा की।'

अथवा वैराग्यवान् होते हैं वे ही पूजे जाते है। संसार में तो वे अंश रूप से हैं। लोक में जो श्रीमान् कहाते हैं, उनके पास लाख दो लाख करोड़ अथवा अरब खरब द्रव्य होगा, किन्तु भगवान् की सेवा में तो सदा मूर्तिमती लक्ष्मी ही संलग्न रहती हैं। अतः उनसे बढकर श्रीमान कौन होगा। जिस सभा में स्वयं साक्षात् साकार रूप से श्री श्यामसुन्दर ही विद्यमान् है, उसमें उनके अतिरिक्त अग्रपूजा और किसी की हो ही कैसे सकती है। वैसे तो ऋषि, मुनि, देवता, द्विज आदि सब उनके ही अश हैं। किन्तु पुरुष रूप में तो वे ही पुरुषोत्तम हैं। नरों में तो वे ही नरोत्तम हैं। अब जहाँ नरों की पूजा का प्रश्न आवेगा सबसे प्रथम नरोत्तम की ही पूजा होनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज का राजसूय यज्ञ अत्यन्त ही उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ। यज्ञ के अन्त में एक सौत्य दिवस होता है। जिस दिन सोमवल्ली नामक लता को कूटकर उसका रस निकाला जाता है उस सोमरस को देवताओं को पान कराते हैं। यज्ञ में वह दिन सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसी दिन यज्ञान्त स्नान भी करते हैं। उस दिन ऋत्विज, सदस्य, सभापति तथा आये हुए राजाओं का विशेष रूप से सम्मान किया जाता हैं। सबको सबकी पद प्रतिष्ठा और योग्यता के अनुसार अर्घ्य दिया जाता है।

धर्मराज ने प्रथम यज्ञ कराने वाले बड़े-बड़े श्रोत्रिय वेदज्ञ याजकों का तथा सभापति का सावधानी के साथ पूजन किया। यज्ञ के सदसस्पति, याजक तथा अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों का पूजन होने के अनन्तर अब यज्ञ में पधारे हुए सभी राजाओं का भी सम्मान करना था। उन्हें भी अर्घ्य देकर सत्कृत करना था। यहाँ आये हुए सभी राजा अपने को श्रेष्ठ समझते थे। अब यह उठा कि सर्वप्रथम अग्रपूजा किसकी की जाय। आज

छिर के राजसूय यज्ञ में सर्वप्रथम जिसकी पूजा की जायगी, वही सबसे श्रेष्ठ राजा समझा जायगा इस विषय में बड़ा मतभेद हो गया। वहाँ देश-देशान्तरों के सहस्रों लाखों राजा समुपस्थित थे, सभी चाहते थे, हमारी सर्वप्रथम पूजा हो। अग्रपूजा का सम्मान हमें मिले। स्वयं अपने मुख से तो कोई कहता नहीं था अपने-अपने समर्थक राजाओं से अपने नाम का प्रस्ताव कराते। जिसके पक्ष में बहुत से राजा हो जाते, वे कोलाहल करते अपने पक्ष के राजा की प्रशंसा करते। दूसरे प्रतिद्वन्द्वी राजा के दोष बताकर यह सिद्ध करते कि यह किसी प्रकार अग्रपूजा का अधिकारी नहीं। दूसरे राजा उसकी भी निन्दा करते। इस प्रकार बड़ा कोलाहल हुआ। कोई सर्व सम्मत निर्णय हो ही न सका। धमराज बड़े धर्म संकट में पड़ गये। वे सोचने लगे—"अब तक तो यज्ञ का कार्य सुचारु रीति से बड़े प्रेम के साथ सम्पन्न हुआ। यह अन्त में विकट मतभेद हो गया। वे शंकित चित्त से उठकर खड़े हुए और हाथ जोड़कर बोले—"राजाओ! आप सभी श्रेष्ठ हैं, सभी कुलीन हैं, सभी पूजनीय तथा नरपति हैं। तो भी अग्र पूजा तो एक की ही होगी। पूजन तो सभी का होगा, किन्तु सर्व प्रथम किनकी पूजा हो, आप सम्मति दें।"

यह सुनकर धर्मराज के छोटे भाई सहदेव जी खड़े हुए। उन्होंने आवेश में भरकर सब राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"सभा में पधारे हुए सर्व सभासदगण! मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। इस सभा में सभी श्रेष्ठ हैं, किन्तु अग्रपूजा के एक मात्र अधिकारी यदुनन्दन भगवान् वासुदेव ही हैं। यज्ञ के जितने धनादि उपकरण हैं, तथा देश, काल और पात्र जो साधन है वे सब इनके ही रूप हैं। इनसे भिन्न किसी का अस्तित्व संभव ही नहीं। जितने भी अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, पशुयज्ञ, सोमयज्ञ, तथा अन्यान्य यज्ञ हैं इनके ही स्वरूप हैं।

अग्नि, आहुति, मन्त्र सांख्य तथा योग आदि हैं वे सब इन्हीं के निमित्त हैं। समस्त शास्त्र इन्हीं का प्रतिपादन करते हैं। यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च इन्हीं का स्वरूप है। ये ही ब्रह्मा बनकर सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप से पालन करते हैं और अन्त मे रुद्र-रूप से उसका संहार करते हैं। इन्हीं अच्युत के आग्रह से अखिल जगत् विविध भाँति के कर्म करता है। सब कर्मों की सिद्धि देने वाले सिद्धिदाता सर्वेश्वर ये ही हैं। इसलिये मेरी सम्मति है, कि सबसे प्रथम अग्रपूजा इन अखिलेश्वर अच्युत की ही होनी चाहिये। ये जीव मात्र के स्वामी हैं, इनकी पूजा होने से सबकी पूजा हो जाती है। जिसे अपने कर्म अनन्त करने की इच्छा हो वह अपने सर्वकर्म इन्हीं के अर्पण कर दे। ये भेद-भाव से रहित शान्त, परिपूर्ण और समस्त भूतों की अन्तरात्मा हैं। जो भी दान दिया जाय, इन्हें देने से वह अक्षय और अनन्त बन जाता है, इसलिये मेरी सम्मति मे ये ही अग्रपूजा के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है, आप सब मेरे मत का समर्थन करेंगे और भगवान् श्री कृष्णचन्द्र की ही अग्र पूजा हो, इसके लिये अपनी-अपनी सम्मति सहर्ष प्रदान करेंगे।"

इस प्रकार अपने पक्ष का प्रबल युक्तियों से समर्थन करके भगवान् के प्रभाव के जानने वाले सहदेव जी खड़े रहे। उन्हें खड़े देखकर घुड़कते हुए धर्मराज बोले—"सहदेव! तुम अभी बच्चे हो। सभा में हमारे कुल गुरु हम सब के पितामह श्रीभीष्म उपस्थित हैं, फिर तुम्हें बोलने की क्या आवश्यकता है ?"

धर्मराज की डाँट सुनकर सहदेव लज्जित हुए और अपने स्थान पर जाकर चुपचाप बैठ गये।

तब भीष्म पितामह ने धर्मराज को रोकते हुए कहा—'युधिष्ठिर भैया! यह तुम्हारा व्यवहार शास्त्र सम्मत नहीं है वृद्ध वही नहीं है जिसके बाल पक गये हों। जो उचित और युक्ति-

युक्त बात कहे वही वृद्ध है। बालक भी यदि धर्म युक्त श्रेष्ठ बात कहता है तो वह ग्राह्य है इसके विपरीत यदि वृद्ध भी हो और वह धर्म विरुद्ध बात कहे, तो उसे कभी भी न मानना चाहिये। सहदेव ने युक्तियुक्त बात कही है। हमारे यहाँ अर्घ्य देना एक विशेष सम्मान का सूचक है। आचार, ऋत्विज, श्वसुर, आदि अपने श्रेष्ठ सम्बन्धी, स्नातक ब्रह्मचारी मित्र और राजा ये छे श्रेष्ठ माने गये हैं। अपने घर पर ये आवें तो अर्घ्य देकर इनका सम्मान करना चाहिये। जो बहुत दिन अपने साथ रहे हों वे भी अर्घ्य के अधिकारी हो जाते हैं। इस सम्बन्ध से यज्ञ में आये हुए ये सभी राजा हमारे पूजनीय हैं। तुम्हें इन सब को अर्घ्य देकर सम्मानित करना चाहिये। अब विवाद का विषय इतना ही है, कि सर्व प्रथम अर्घ्य किसे दिया जाय। प्राथमिक पूजा का अधिकारी किसे माना जाय। सदाचार ऐसा है कि जो उपस्थित राजाओं में सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और श्रेष्ठ हो, सर्व प्रथम उनको अर्घ्य देकर फिर सामान्य रूप से सबको दिया जाय। सहदेव जी ने जो प्रस्ताव किया है वह सर्वथा उचित है। श्रीकृष्ण सामर्थ्य, पराक्रम, नीति, धर्म, कुशलता, युद्धचातुरी, रूप, गुण सौन्दर्य, प्रभाव, ओज, तेज, बल, वीर्य तथा अन्य सभी बातों में सबके श्रेष्ठ हैं। इस समस्त सभा की शोभा श्याम-सुन्दर की समुपस्थिति के ही कारण है, अतः सर्वप्रथम भगवान् वासुदेव की ही पूजा हो, वे ही इसके सर्वोत्तम पात्र हैं।"

यह सुनकर ब्राह्मण ने एक स्वर से कहा—"साधु! साधु! यह सर्वोत्तम बात है, श्रीकृष्ण की ही सर्वप्रथम पूजा होनी चाहिये।" जिन बीस सहस्र राजाओं को भगवान् ने जरासन्ध के बन्दी गृह से छुड़ाया था, वे भी सब चिल्लाकर कहने लगे—'भगवान् की ही सर्वप्रथम पूजा होनी चाहिये। इस कोलाहल में कोई किसी की सुनता ही न था, जो राजा इस प्रस्ताव का

विरोध करना चाहते थे, उनके बहुमत को देखकर इस कोलाहल में साहस ही न हुआ। वे चुपचाप अपने आसनों पर बैठे रहे। सर्व सम्मति समझकर धर्मराज ने सहदेव से पूजा की समस्त सामग्री श्यामसुन्दर के सम्मुख रखने को कहा। पाँचों भाई एक स्थान पर जुट आये। द्रौपदी भी धर्मराज की बगल में ही बैठी थीं। आज हम अपने हृदय धन यदुनन्दन की सबके सम्मुख श्रद्धा सहित पूजा करेंगे इस बात के स्मरण आते ही सबके सब रोमाञ्चित हो उठे। धर्मराज तो प्रेम में ऐसे विह्वल हो गये, कि उन्हें शरीर की भी सुधि नहीं रही। कुरुकुल के समस्त सम्बन्धी भगवान् की पूजा करने को एकत्रित हो गये थे। महाराज के मन्त्री, पुरोहित सुहृद तथा अन्यान्य परिवार वाले भी बैठे थे। उस सभा में शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादिक लोकपाल अपने गणों के साथ विराजमान थे, गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, यक्ष, राक्षस, मुनि, किन्नर पक्षी तथा सिद्धचारणादि सभी समुपस्थित थे। भगवान् की पूजा देखकर सभी प्रमुदित हो रहे थे। भाइयों की सहायता से धर्मराज ने प्रभु के पादों का प्रक्षालन किया और उस भुवन पावन पादोदक को प्रेमपूर्वक सिर पर चढ़ाया। फिर अर्घ्य आचमनीय, स्नानीय जल देकर यज्ञोपवीत सहित दो रेशमी पीताम्बर तथा बहुमूल्य आभूषण उन्हें अर्पण किये। चन्दन, अक्षत पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीप नैवेद्यादि से उनकी विधिवत् पूजा की। उस समय धर्मराज की विचित्र दशा थी। प्रेम के कारण वे अधीर हो रहे थे। थर थर थर काँप रहे थे। पुरोहित कुछ वस्तु उठाने को कहते उठा कुछ लेते। वे चन्दन लगाने को कहते आप अक्षत छींटने लगते। वे श्यामसुन्दर के त्रिभुवन रूप को नयन भर के निहारना चाहते थे, किन्तु नयनों में निरन्तर नीर भरा रहने से वे भगवान् के भली भाँति दर्शन भी न कर सके। उन्हें सभा की कोई भी वस्तु स्पष्ट दिखायी नहीं दे रही थी। सभा में सर्वत्र

आनन्दोल्लास छाया हुआ था। सभी गगन भेदी जय घोष कर रहे थे, आकाश से सुरगण कल्पवृक्ष के कुसुमों की अनवरत वृष्टि कर रहे थे। समस्त प्रजा के जन हाथ जोड़े नयनों से नेत्र-का नीर बहाते हुए, सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बार-बार "जय हो जय हो, धन्य धन्य, नमोनमः नमोनमः" ऐसे शब्द कर रहे थे, उस कोलाहल में किसी की कोई बात सुनना ही नहीं था। धर्मराज आत्म विस्मृत बने यन्त्रवत् पूजा कर रहे थे। वे ऐसी कोई वस्तु देख ही नहीं रहे थे, जिसे भगवान् के अर्पण कर सकें। और कुछ न देखकर उन्होंने अपना शरीर ही श्यामसुन्दर को अर्पित कर दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस सभा मे और तो प्रायः सभी प्रसन्न थे सन्तुष्ट थे, किन्तु चेदि देश का राजा दमघोष का पुत्र शिशुपाल ईर्ष्या के कारण जल रहा था। वह श्रीकृष्ण का इतना सम्मान सहन नहीं कर सकता था। मारे क्रोध के उसके अग अग स चिनगारियाँ सी निकल रही थीं। उसके नेत्र लाल लाल हो रहे थे। रोप में भरकर वह दाँतो से ओठ काट रहा था, जब श्रीकृष्ण की पूजा हो ही रही थी, तभी उसे सहन न करके वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और सबको डॉटकर शान्त करता हुआ, भगवान् को खरी खोटी, जली कटी बातें सुनाने लगा। उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बोले उठि सहदेव—'सभा महँ श्याम विराजें।
नभ महँ उडगन मध्य शरद शशिसम हरि भ्राजें॥
ये ही जग के पूज्य प्रथम पूजा अधिकारी।
अखिल भुवनपति सकल चराचर के दुखहारी॥
कर्यो समरथन पितामह, साधु साधु सबई कहत।
धरमराज के प्रेमवश, नेह नीर नयननि झरत॥

भगवान् के प्रति शिशुपाल की दुरुक्तियाँ

(११५२)

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठाद्,
उत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी,
संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ७४ अ० ३० श्लोक)

छप्पय

पाडव कृष्णा सहित सुनत अति भये सुखारे।
पूजन प्रभु को करयो प्रेम तें पाद पखारे॥
पूजा विधि सब भूलि करें कछु कछू बतावें।
कहि न सकें कछु बात कँपें कर हिय हुलसावें॥
प्रभु पूजा शिशुपाल लखि, बोल्यो कृष्ण अयोग्य अति।
जाति, बरन, कुल तें रहित, कपटी कायर मन्दमति॥

मनुष्य क्या है, भावों का एक थैला है। इसके भीतर सद्भाव और दुर्भाव ठूँस कर भरे हैं। कोई भी ऐसा नहीं जिसके

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! इस प्रकार दमघोष का पुत्र शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के गुणों का तथा उनके सुयश का वर्णन सुनकर अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। वह अत्यन्त कुपित होकर सभा में हाथ उठाकर तथा निर्भीक होकर भगवान को अत्यन्त कठोर वचन सुनाता हुआ कहने लगा।"

भीतर सद्भाव, दुर्भाव दोनों न हो। सज्जनो के सद्भाव ही प्रकट होते हैं, दुर्भाव दवे रहते हैं। उसी प्रकार दुर्जनों के सद्-भाव दवे रहते हैं। दुर्भाव प्रकट रहते हैं। हृदय के भाव मुख पर स्पष्ट झलकने लगते हैं। जैसी वस्तु सम्मुख आ जायगी मन उसी के भाव मे भावित हो जायगा और उसकी झलक मुखमडल पर छा जायगी। अपने अत्यत प्यारे को देखते ही हृदय खिल उठता है, रोम-रोम से आनन्द उमडने लगता है। आँखें चमकने लगती हैं और अनुराग टपकने लगता है। इसके विपरीत कोई अपने से द्वेष करने वाला, क्रूर, द्वेषी आ जाय तो हृदय में घृणा उत्पन्न हो जाती है। मुख मण्डल रोष, घृणा और द्वेष से लाल हो जाता है। जो ईर्ष्यालु होते हैं, वे दूसरो की उन्नति देखकर जलने लगते हैं। उस समय वे वडे ही वीभत्स बन जाते हैं। उसके अग-अग से घृणा, द्वेष, हिंसा, क्रूरता निकलने लगती है उस समय उनके भीतर जितना द्वेष भरा रहता है, उसे वाणी द्वारा व्यक्त कर देते हैं। यह प्राणी भावों द्वारा ही जीवित है। मृतक सज्ञा उसी की है, जिसके मुख पर भावों का आना जाना बन्द हो जाय। एक आदमी सुन्दर है, आकर्षक है, मनोहर है, किन्तु जब वह क्रोध मे भर जाता है, तो उसकी आकृति कैसी भयकर हो जाती है। हृदय मे काम भाव उत्पन्न होने पर स्त्री पुरुषों की जैसी चेष्टाएँ हो जाती है। वे मुख से स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं। एक डाकू है, हत्यारा है, किन्तु वह भी जब अपनी प्रिया से मिलता है तो उसके हृदय मे प्रेम जागृत हो जाता है। उसकी बोल-चाल में चितवन में बातों में प्रेम की झलक स्पष्ट दिखायी देती है। ऐसे ही जिसके प्रति जन्म जात घृणा है, उसका मान सम्मान अभ्युदय तथा उत्कर्ष देखकर शरीर विना अग्नि के भस्म होने लगता है। सामर्थ्य रहने पर उसका अनिष्ट करने के लिये सब प्रयत्न करता है, उसकी उचित अनुचित सब प्रकार से निन्दा

करके द्वेषी पुरुष जनमत को अपनी ओर करने का प्रयत्न करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा भगवान् श्यामसुन्दर की अग्रपूजा होते देखकर सभी आनन्द में विभोर हो रहे थे। सभी का हृदय प्रफुल्लित हो रहा था। किन्तु उन राजाओं में एक भगवान् का तीन जन्म का शत्रु भी बैठा था। वह था चेदि देश के राजा दमघोष का पुत्र शिशुपाल। वैसे तो यह जन्म से पैदा हुआ था तभी से भगवान् से द्वेष मानता था। अपराजित भगवान् को पराजित करने के ही निमित्त वह महाबली जरासंध का सेनापति बना था, किन्तु जबसे भगवान् उसकी भावी पत्नी रुक्मिणीजी को बलपूर्वक हर लाये और वह दुलहा बना रिक्त-हस्त घर लौटा, तबसे उसका द्वेष पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। वह जिस किसी प्रकार भगवान् के अनिष्ट करने पर तुला था, किन्तु भगवान का कोई अनिष्ट कर ही क्या सकता है। वे तो सबके परम इष्ट हैं। जरासन्ध के मारे जाने पर उसका उत्साह भंग हो गया, उसने धर्मराज के राजसूययज्ञ का अनिच्छा पूर्वक समर्थन किया और यज्ञ में सम्मिलित भी हुआ। उसे आशा थी, जरासंध के मरने पर अब संसार में सर्वश्रेष्ठ राजा मैं ही हूँ। राजसूययज्ञ में राजाओं के बीच में अग्रपूजा मेरी ही होगी, किन्तु पूजा के समय, उसने जो सोचा था उसके सर्वथा विपरीत ही हुआ। उसके शत्रु श्रीकृष्ण की प्रथम पूजा हुई। इससे उसके रोष का वारापार नहीं रहा। उसके रोम रोम से द्वेष की चिनगारियाँ निकलने लगीं। भगवान् की ऐसी महती पूजा, इतनी भारी प्रशंसा और प्रतिष्ठा देखकर द्वेष और ईर्ष्यावश उसका अन्तःकरण जलने लगा। वह क्रोध में भरकर अपने सिंहासन से उठकर खड़ा हो गया। उसने डाँटकर सबसे कहा—"चुप हो जाओ, कोई एक शब्द भी मत बोलो, बाजे बन्द कर दो। मैं भरी सभा

मे राजाओं का इतना अपमान सहन नहीं कर सकता। जिस सभा में घोर अन्याय होता है, उसमें असमर्थ आदमी को एक

क्षण भी नहीं बैठना चाहिये और समर्थ पुरुष को उस अन्याय का शक्ति भर विरोध करना चाहिये। मैं सामर्थ्यवान् हूँ, शक्ति

शाली हूँ, मैं इस अन्याय का विरोध करूँगा आशा है सब राजा मेरा समर्थन करेंगे।"

शिशुपाल की भयंकर दहाड़ को सुनकर सब के सब सन्न हो गये। बाजे बजने बन्द हो गये, सबके सब उसी के मुख की ओर देखने लगे। सब सोचने लगे—"यह क्या कहेगा, किस बात का विरोध करेगा।" इतने में ही शिशुपाल सूखी हँसी हँसकर बोला—"सभा में समुपस्थित सभापति, सदस्य तथा अन्यान्य नृपति गण! आप मेरी बात को धैर्य के साथ सुनें मैं जो कहना चाहता हूँ, उस पर आप सब गम्भीरता पूर्वक विचार करें। भावुकता वश, अथवा भय, लोभ और संकोच वश उसे यों ही टाल न दें।"

इस पर एक राजा ने कहा—"आप इतनी बड़ी भूमिका क्यों बाँध रहे हैं, जो बात कहनी हो उसे कहिये।"

सूखी हँसी हँसकर शिशुपाल ने कहा—"क्या कहें, कुछ कहा नहीं जाता। समय बड़ा बलवान् है। इसका पार पाना बड़ा कठिन है, कभी पैर की जूतियों की धूलि उड़कर सिर पर चढ़ जाती है। कभी सुन्दर सुमन पैरों तले कुचल दिये जाते हैं। जिन का सम्मान होना चाहिये उन्हें कोई पूछता भी नहीं और जो सम्मान के सर्वथा अयोग्य हैं उनकी सबके सम्मुख निर्लज्जता पूर्वक पूजा हो रही है और कुलीन छत्रपति राजा भयवश इसका विरोध भी नहीं करते। टुम्म-टुम्म एक दुसरे के मुख की ओर देख रहे हैं। इस सभा में बड़े-बड़े वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध, तथा कुल ऐश्वर्य वर्ण और प्रभाव वृद्ध पुरुष बैठे हुए हैं। किन्तु न जाने क्यों सबकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, कोई बोलता ही नहीं अन्याय का विरोध करने की मानों किसी में सामर्थ्य नहीं, मैं देख रहा हूँ यहाँ पर आप जितने सभापति समुपस्थित हैं, सब के सब सत्पात्रों की परीक्षा करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप सब

जानते हैं कोन श्रेष्ठ है और कौन कनिष्ठ। इस यज्ञ में अग्रपूजा किसकी होनी चाहिये इस विषय में आप सब फिर से विचार करें। इस छोकरे सहदेव के कहने से ही भ्रम में न पड जायें। मैं सहदेव के इस प्रस्ताव का पूर्ण शक्ति के सहित घोर विरोध करता हूँ। मैं इस कुल कलङ्क गोपाल कृष्ण की अग्रपूजा को कभी सहन नहीं कर सकता। जिस सभा में अपूज्य पुरुष की पूजा होती है, तथा पूज्य पुरुषों का तिरस्कार होता है, उस सभा में अन्याय होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। युधिष्ठिर ने हम सब राजाओं को बुलाकर हमारा घोर अपमान किया है, हम ऐसी सभा में एक क्षण भी रहना नहीं चाहते। राजा लोगो! तुम्हें धिक्कार है, जो तुम छत्र चँवर धारी होकर भी अपने सम्मुख एक ग्वाले की पूजा देख रहे हो और उसका विरोध नहीं करते। ऐसी सभा से उठ चलो, ऐसे यज्ञ का विरोध करो,, पाडवों के पक्ष के राजाओं को मार डालो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर और क्रोध मे भर कर शिशुपाल अपने आसन से उठकर चल दिया। कुछ उसके अनुयायी राजा भी उठने लगे। धर्मराज ने देखा, यह तो यज्ञ में बडा भारी विघ्न हुआ। उन्होंने तुरन्त दौडकर शिशुपाल को पकड़ लिया और बडी विनय के साथ बोले—"अरे, भैया! ऐसा मत करो। मैंने तो सबकी सम्मति से श्यामसुन्दर की पूजा की है। तुम भागते क्यों हो? बैठो, बात बताओ।"

क्रोध में भरकर खड़े-खड़े ही शिशुपाल बोला—"युधिष्ठिर! तुम्हें सब लोग धर्मात्मा कहते हैं। मैं भी तुमसे स्नेह करता हूँ। स्नेह न करता तो मैं तुम्हारे यज्ञ मे आता ही क्यो? मैंने जो तुम्हें धन, रत्न तथा अन्यान्य वस्तुएँ दी हैं, ये डरकर या कर भेंट के रूप मे थोड़े ही दी हैं। मैंने तो तुम्हारे शुभकाम मे सहायता दी है। उसका परिणाम यह हुआ, कि तुम हम राजाओं का अप-

मान करने लगे। कृष्ण में क्या योग्यता है, जो तुम इसकी सर्व प्रथम पूजा कर रहे हो।

देखो, यह राजाओं की सभा है, इसमें तुम्हें यज्ञ मे आये समस्त राजाओं में से किसी सर्वश्रेष्ठ राजा की पूजा करनी थी। तुम धर्मपूर्वक बताओ, वृष्णि वश में आज तक कोई छत्र चँवर धारी राजा हुआ है ? यह कुल तो महाराज ययाति के शाप से शापित है। इसलिये कृष्ण कोई राजा नहीं है ? फिर तुमने कृष्ण की पूजा क्यो की ? तुम कहो, हम तो श्रेष्ठ क्षत्रिय की पूजा करना चाहते है, तो यादवों की गणना तो क्षत्रियों मे है ही नहीं ये तो क्षत्रियो से बहिष्कृत हैं ? फिर तुमने कृष्ण की पूजा क्यो की ? तुम कहो, कि हमे तो अपने किसी श्रेष्ठ सम्बन्धी की पूजा करनी थी, तो इसके लिये वयोवृद्ध महाराज द्रुपद समुपस्थित हैं, इनकी पूजा करते, हमें कोई आपत्ति नहीं थी। ऐसे श्रेष्ठ सम्बन्धी को छोडकर राज्यहीन कृष्ण को आपने अग्रपूजा का सम्मान क्यों दिया ? तुम कहो, कि द्रुपद से तो हमारा पत्नी द्वारा सम्बन्ध है, हम तो मातृकुल के सम्बन्ध से पूजा करना चाहते थे, तो तुम्हारी माता के भाई तुम्हारे मामा वसुदेवजी उपस्थित थे, उनकी पूजा करते, उनके भी श्वसुर उग्रसेन उपस्थित थे, उनकी ही पूजा करते। मद्र देश के महाराज शल्य उपस्थित थे उनकी पूजा करते। मामा के पुत्र की ही पूजा करनी थी, तो कृष्ण से बडे बलदेव उपस्थित थे, उनकी पूजा करते। इन सब श्रेष्ठ सम्बन्धियों की पूजा न करके तुमने कृष्ण की पूजा क्यों की ?

तुम कहो, कि हमें तो जो अस्त्र शस्त्रो में सबसे श्रेष्ठ हो, धनुर्वेद का आचार्य हो उसकी पूजा करनी है, तो ये द्रोणाचार्य जी कृपाचार्य जी, अश्वत्थामा जी तथा अन्यान्य धनुर्वेद विशारद आचार्य उपस्थित थे, इन सबका तिरस्कार करके आपने इस डरपोक भगोडे कृष्ण की पूजा क्यों की ? आप कहे कि हमे तो

कुल वृद्ध की पूजा करनी था, तो तुम्हारे ही कुल में सब से वृद्ध भीष्म पितामह समुपस्थित हैं। जिन्होंने रण में परशुराम जी को भी परास्त किया, मृत्यु जिनके वश में है उनको छोड़कर कल के छोकरे कृष्ण को चुना। बड़े बड़े तपस्वी, विद्वान् व्रती निष्कल्मष ब्रह्मनिष्ठ, लोकपालों से भी पूजित यज्ञ के बहुत से सदस्यपतियों का अतिक्रमण करके गुण हीन कृष्ण को आपने पूजा का पात्र कैसे समझा? तुम कहो कि हम तो यज्ञ के ऋत्विज, यज्ञ के समस्त सभार जुटाने वाले को पूजा करनी थी, तो भगवान् व्यास बैठे थे, तुम्हारे पितामह हैं उनकी पूजा करते। तुम कहो हमें तो सबसे बली की पूजा करना थी, तो बलदेव, दुर्योधन कर्ण, तथा अश्वत्थामा जगत् विख्यात बलियों की उपस्थिति में निर्बल कृष्ण को आपने इतना अधिक सम्मान क्यों दिया? मूर्धाभिषिक्त राजाओं के रहते राज चिन्हों से हीन कृष्ण की पूजा करना सब का तिरस्कार करना है।

मान लो तुम से भूल हो भी गयी, तुम सहदेव और भीष्म की बात में आ भी गये, तो इस कृष्ण को तो इस अनुचित पूजा को स्वीकार करना ही न चाहिये था। इसे कह देना चाहिये था, मैं इसका अधिकारी नहीं हूँ। इस पूजा से इसका मान नहीं हुआ अपमान ही हुआ है। जैसे नकटी स्त्री को नथ देना, नेत्र हीन को दर्पण दिखाना, नपुन्सक का विवाह करना, बाँह कटे का कंकण देना तथा बहरे को संगीत सुनाना उसका अपमान करना है। कृष्ण को अग्रपूजा करना उसी प्रकार असगत है, जैसे यज्ञ की हवि को कौए को देना, देवता के निमित्त बनी खीर को कुत्ते को चटाना। अन्नकूट के लिए बने पदार्थों को गधे को खिलाना। तुम लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, भीष्म सठिया गये हैं, जिस सभा में ऐसा अन्याय अधर्म होता हो उसमें मैं एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहता।

धर्मराज ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ शिशुपाल को प्रेम पूर्वक समझाते हुए कहा—"देखो, भैया! शिशुपाल! तुम्हें श्रीकृष्ण को न तो इस प्रकार कठोर वचन ही कहने चाहिये और न वयोवृद्ध श्री भीष्म पितामह का इस प्रकार अपमान ही करना चाहिए। अच्छा, तुम ही सोचो यहाँ इस सभा में तुम से अवस्था में, पद प्रतिष्ठा में विद्या बुद्धि में बड़े बहुत से राजा हैं। किसी ने भी इस बात का विरोध नहीं किया। इसलिये तुम्हें भी विरोध करके हमारे यज्ञ में विघ्न न डालना चाहिए। आपको जो कहना हो, बैठकर कहो, फिर जैसी सबकी सम्मति हो, उसे तुमको स्वीकार कर लेना चाहिये।"

क्रोध में भरकर शिशुपाल ने कहा—"कोई भयवश भले ही विरोध न करे, किन्तु यह बात सबको बुरी लगी है। बुरी लगने की बात ही है, तुम्हें धनमद हो गया है। भीष्म भी तुम्हारी लल्लो चप्पो में लगे हैं। जहाँ ऐसा अन्याय, अधर्म, पाप, पक्षपात, तथा महापुरुषों का अपमान होता हो, वहाँ मैं एक क्षण भी रुकना नहीं चाहता। मैं शक्ति भर इसका विरोध करूँगा और तुम्हारे यज्ञ को पूरा न होने दूँगा।"

यह सुनकर भीष्म पितामह को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कोध में भरकर धर्मराज से कहा—"युधिष्ठिर! तुम इस नीच की इतनी विनय क्यों कर रहे हो। यह तो दुष्ट है, इसे मैं जन्म से ही जानता हूँ, यह श्रीकृष्ण का द्वेषी है, निन्दक है, अधम है, अभिमानी है, निर्लज्ज है। इसे जाने दो। जब यह बात सुनना ही नहीं चाहता तो इसकी जो इच्छा हो सो करे। इस गीदड़ के चले जाने से क्या हमारा यज्ञ पूरा न होगा। यदि यह बैठकर मेरी बात सुने तो मैं इसे बताऊँ, कि श्रीकृष्ण यज्ञ के ही स्वामी नहीं सम्पूर्ण चराचर विश्व के स्वामी हैं। यज्ञों में आगे पीछे, मध्य में तथा सब समय इनकी ही तो पूजा होती है।"

यह सुनकर शिशुपाल फिर अपने आसन पर बैठ गया और क्रोध में भरकर बोला—"इस बूढ़े ने ही सब गुड गोबर किया है। इसी ने धर्मराज की बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। यह इस अहीर के छोकरे को परब्रह्म बताता है। यदि यह बूढ़ा, कृष्ण को ईश्वर मानता है, तो अपने घर में बैठकर मानता रहे। राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा, नीति, धर्म, सदाचार तथा शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है।"

भीष्म पितामह ने कहा—"तैंने यदि शास्त्रों को पढ़ा होता और वृद्धजनों की सेवा की होती, तो तू ऐसी भूली-भूली बातें कभी न करता। श्रीकृष्ण धर्म से नीति से सदाचार तथा शास्त्र से सभी प्रकार अग्रपूजा के अधिकारी हैं। उनकी ईश्वरता को छोड़ भी दें तो भी वे यहाँ उपस्थित समस्त राजाओं के गुरु हैं। ब्राह्मणों में विद्या के कारण श्रेष्ठता है। ब्राह्मण अवस्था में चाहे छोटा हो, किन्तु विद्या में बड़ा हो, तो वह वृद्धों का भी पूजनीय है। वैश्यों में बड़ाई धन के कारण मानी जाती है, जो धनी है वह बड़ा है, शूद्रों में बड़प्पन अवस्था के कारण माना गया है और क्षत्रियों में बड़ाई बल से होती है। जो सबसे अधिक बली है क्षत्रियों में वही सर्वश्रेष्ठ है। जो क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय को युद्ध में हराकर छोड़ देता है, वह हारे हुए का गुरु होता है। आज पृथ्वी का कोई क्षत्रिय कह दे वह युद्ध में श्रीकृष्ण से नहीं हारा है। यदि किसी को अपने बल का अभिमान हो तो वह अब भी श्रीकृष्ण के सम्मुख आ जाय। जब इन्होंने सब राजाओं को जीतकर छोड़ दिया है तो ये सबके गुरु हैं और अग्रपूजा के सर्वोत्तम अधिकारी हैं। जिसे इनकी गुरुता मान्य न हो, वह प्रसन्नता पूर्वक हमारे यहाँ से चला जा सकता है और उसकी जो भी इच्छा हो वह कर सकता है।"

यह सुनकर क्रोध में भरकर शिशुपाल बोला—"श्रीकृष्ण

कपटी है, उसने जरासन्ध को कपट से मरवा दिया है। श्रीकृष्ण भीरु है, वह जरासन्ध के भय से मथुरा छोड़कर परिवार सहित समुद्र के बीच मे छिपा रहता है। मैं डंके के चोट पर कहता हूँ, श्रीकृष्ण राजसूय यज्ञ मे अग्रपूजा का किसी भी प्रकार अधिकारी नहीं। यदि उसकी अग्रपूजा होगी, तो हम युद्ध करेंगे, लड़ेगे यज्ञ को विध्वंस करेंगे, सब को मार डालेंगे, किन्तु कृष्ण की पूजा नहीं होने देंगे।"

भीष्म पितामह ने कहा—"हम किसी की गीदड़ भभकियो मे आने वाले नहीं हैं। ये बन्दर घुड़कियाँ कहीं अन्यत्र दिखाना हमने श्रीकृष्ण का पूजन किसी उपकार के लक्ष्य मे, डरकर, भूल से अथवा भ्रमवश नहीं किया है। हमने इन्हें सर्वश्रेष्ठ मानकर पूजा का सर्वोत्तम पात्र समझकर यह सम्मान दिया है। ये वीरता, विद्वता, निपुणता, धन, बल, यश, श्री, ह्री, लज्जा, कीर्ति, नम्रता, धृति, तुष्टि, पुष्टि, बुद्धि, रूप, गुण, तथा ज्ञान मे सबसे अधिक श्रेष्ठ हैं। पूजा की सम्पूर्ण पात्रतायें इनमे ही एक साथ विद्यमान हैं। ये हमारे गुरु हैं, सगे सम्बन्धी हैं, स्नातक है, ऋत्विज हैं, राजा हैं, आचार्य हैं कहाँ तक कहे ये ही हमारे सर्वस्व हैं। हमारे ही नहीं तीनो लोकों के ये ईश्वर हैं। हम ने इनकी पूजा की है कर रहे हैं और जब तक जीयेंगे तब तक करते रहेंगे। हमने सब की सम्मति ले ली है, यदि शिशुपाल को भगवान की पूजा प्रिय नहीं है, तो उसे जो उचित जान पड़े निःशक होकर करे।

इतना सुनते ही सहदेव आवेश मे उठकर खड़े हो गये और गरज कर बोले—"श्रीकृष्ण हमारे गुरु, पिता, आचार्य, रक्षक तथा सर्वस्व हैं। जो राजा उनकी पूजा को सहन नहीं कर सकता उसके सिर पर हम अपना पैर रखते हैं। यदि किसी मे बल हो, साहस हो तो हमारी चुनौती का उत्तर दे।"

यह सुनकर धर्मराज ने सहदेव को घुडकते हुए कहा—"सहदेव ! भाई ! तुम्हारे बिना बोले भी काम चल सकता है। पितामह कह तो रहे है। भैया ! हम तो पितामह के अधीन हैं, हमें वे जसी आज्ञा देंगे करेंगे।"

गरजकर पितामह बोले—"युधिष्ठर ! तुम यह बार-बार क्या अडगा लगाते हो। सत्य बात तो कहनी ही चाहिये। सहदेव यथार्थ ही कह रहा है, उसे तुम मत रोको। तुम पूजा करो, जो कोई पूजा मे विघ्न डालेगा उसे मैं अकेला देख लूँगा।"

यह सुनकर धर्मराज नीचा सिर करके फिर भगवान् की पूजा करने लगे। भगवान् निरपेक्ष भाव से चुप बैठे थे, वे न तो शिशुपाल की बात का कुछ उत्तर देते न भीष्म आदि को ही रोकते। वे पृथ्वी पर बीच-बीच मे लकीर खींचते जाते थे। शिशुपाल क्रोध में भरा हुआ आपे से बाहर हो रहा था। वह निरन्तर भगवान् को गालियाँ दे रहा था। वह भीष्म को खरी खोटी कह-कह कर भगवान् की निन्दा कर रहा था। वह कहता था—"भीष्म नपुंसक है, यह कृष्ण की भाटो की भाँति प्रशंसा कर रहा है, इसी ने पांडवों से श्रीकृष्ण की पूजा करायी है। अग्रपूजा की बात तो पृथक रही कृष्ण इस राज सभा में बैठने योग्य भी नहीं, यह वर्ण, आश्रम तथा कुल से बहिष्कृत है। यह धर्म की मर्यादा से रहित है, रण छोडकर भागने वाला भगोडा है। स्वेच्छाचारी है, बैल (वृषभासुर) को मारने वाला है स्त्री (पूतना) को मारने वाला है, मनमाना बर्ताव करने वाला है, इसका समस्त कुल शापित है, सत्पुरुषों की सभा मे यह बैठने के अयोग्य है। इसके कुल के सब सुरापी हैं। यह और इसके कुल के लोग डाकू और लुटेरे हैं। मथुरा जैसे ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित पवित्र देश को छोडकर ये लोग डरकर भगकर समुद्र के बीच मे रहते हैं। ये प्रजा को पीड़ा देते रहते हैं। कृष्ण छलिया है, बहुरूपिया है।

दास और नीच भगोड़ा समझकर जरासन्ध इससे नहीं लड़ा था, तब इसने छल, चल, कला, कौशल तथा अन्याय से उसे मरवा डाला। यदि यह भगवान् था सर्व समर्थ था, तो छिपकर क्यों गया ? इसने ब्राह्मणों का-सा बनावटी वेष क्यों बनाया ? इसमें बल नहीं, वीर्य नहीं। यह पेट्टू है। गोवर्धन पूजा के समय यह बहुत अन्न खा गया था। इसी से इसे बड़ा अभिमान हो गया है। यह राजाओं में पूजा पाने के सर्वथा अयोग्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार शिशुपाल भगवान को अनगिनती गालियाँ दे रहा था, किन्तु भगवान् उन सब गालियों को चुपचाप गिनते जाते थे। एक गाली देता तुरत वे एक लकीर कर देते। वह भरी सभा में न तो लज्जित ही होता था न किसी का कुछ शील संकोच ही करता था। निरन्तर बकता ही जा रहा था क्योंकि उसका मङ्गल नष्ट हो रहा था। मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी। काल उसे प्रेरित कर रहा था। जो अत्यंन्त भगवद् भक्त राजा थे, वे शास्त्र के इस वचन को स्मरण करके कि जो पुरुष भगवान् तथा भगवद्भक्तों की निन्दा सुनकर वहाँ से दूर नहीं हट जाता, उसके भी शुभकर्म नष्ट हो जाते हैं और वह नीच गति को प्राप्त होता है।" वहाँ से कान मूँदकर उठकर अन्यत्र चले गये।

पाडवों से सहन न हुआ। वे भगवान् की ऐसी निन्दा सुनकर क्षुब्ध हुए। विशेष कर भीमसेन के तो रोम-रोम से चिनगारियाँ-सी निकलने लगीं। वे गदा लेकर शिशुपाल की ओर मारने दौड़े। तब भीष्म पितामह ने उठकर उन्हें पकड़ लिया और कहा "भीम ! इसकी मृत्यु भगवान् के ही हाथ से है। तू इसे मत मार। कुछ ही क्षणों में तू इसे यहाँ मरा ही हुआ देखेगा। अब यह अपने आपे में नहीं है। यह अपने आप कुछ नहीं कह रहे। कालरुप श्रीकृष्ण ही इसे ऐसा कहने के लिये प्रे

रहे हैं। जैसे सन्निपात में भरकर मनुष्य अट संट बकता है, वही दशा इसकी हो रही है। भगवान् वासुदेव सब जानते हैं, इसीलिये वे मौन हैं।"

इस पर शिशुपाल और भी अधिक कुपित हुआ और बोला—"मैं न तो कृष्ण से डरता हूँ, न पांडवों से, मुझसे पाडव चाहे एक-एक कर के लड लें या सब मिलकर युद्ध कर लें मैं सब प्रकार से लडने को तैयार हूँ। भीष्म ! तुम इस भीम को छोड दो। इसे अपने बल का बडा अभिमान है। आज मैं इसके अभिमान का नाश कर दूँगा।"

सूखी हँसी हँसकर भीष्म पितामह ने कहा—"शिशुपाल ! क्या करूँ भगवान् वासुदेव मुझे रोक रहे हैं, नहीं तो मैं तुझे अभी बता देता। तेरी यह जो जीभ कतरनी की भाँति चल रही है उसे अभी काट लेता। सब के सम्मुख तेरा सिर धड से पृथक् होकर उछलता। अच्छी बात है, तू अभी जितना चाहे बडबडा ले।"

इस पर शिशुपाल ने कहा—"कृष्ण कपटी है चोर है ठग है, इसकी पूजा मैं नहीं होने दूँगा, कभी भी न होने दूँगा। ये सभी राजा, मेरे पक्ष में हैं, इन सबका मैं सेनापति बनकर युद्ध करूँगा।"

यह सुनकर अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, मत्स्य देश के राजा केकय तथा सृञ्जय देशीय राजा अपने-अपने अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध के लिये खडे हो गये। वे सब के सब शिशुपाल को मार डालना चाहते थे। किन्तु बीच में ही खडे होकर भगवान् ने सब को रोक दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब जैसे भगवान् शिशुपाल का वध करेंगे, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

जनम भूमि तजि भग्यो ठग्यो मगधेश्वर छल तैं।
कोई जीत्यो नहीं भूमिपति जानें बल तैं।।
क्षत्रियकुल तैं हीन दीन अति जाकूँ प्यारे।
धनी न मानी जाहि निहारें वैभव बारे।।
अड बड बहुकाल तक, बकत रह्यो शिशुपाल जब।
दौरे पाडव हनन हित, रोकि कहें घनश्याम तब।।

शिशुपाल वध

[११५३]

तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७४ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

बूआ मेरी श्रुतश्रवाको सुत यह पापी।
तीन नयन भुज चारि सहित जनम्यो संतापी॥
तब नभवानी भई गोद जाकी महँ जावे।
गिरें नयन कर वही जाहि परलोक पठावे॥
मेरी गोदी महँ गिरे, करी विनय बूआ बहुत।
दयो ताहि वर दयावश, क्षमा करहु अपराध शत॥

जिसे यह दृढ विश्वास हो जाता है कि जीव अवश है, वह प्रभु प्रेरणा से ही समस्त चेष्टायें करता है, तो फिर वह दुख में सुख मे, हानि में लाभ मे, शुभ मे अशुभ मे, पुण्य में पाप में, जय में पराजय मे सदा सम बना रहता है। फिर उसे किसी बात से उद्वेग नहीं होता। जब यह ध्रुव सत्य है कि प्रभु की इच्छा के बिना

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! उसी समय तुरन्त उठकर भगवान् ने अपने सुहृदो को रोका और अपने ऊपर आक्रमण करने वाले शिशुपाल के सिर को तीक्ष्ण धार वाले अपने चक्र से स्वयं ही काट दिया।'

एक पत्ता भी नहीं हिलता, तब कोई निन्दा और स्तुति करने में स्वतन्त्र केसे हो सकता है। भगवान् जिससे निन्दा कराते हैं, वह अवश होकर निन्दा करता है, जिससे स्तुति कराते हैं, वह स्तुति करता है। भगवान् के लिये तो निन्दा स्तुति समान हैं। वे अपने वन्दना करने वालों को भी परम पद देते हैं। और निन्दकों को भी वही गति देते हैं। उनसे किसी प्रकार सम्बन्ध भर हो जाय, फिर तो बेड़ा पार ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पाडवों के पक्ष के राजाओं ने देखा कि शिशुपाल भगवान् को ऐसी बुरी बुरी गालियाँ दे रहा है, जिनमें से एक को ही सुनकर उसका वध किया जा सकता था, किन्तु भगवान् कुछ बोलते ही नहीं। तब वे सब उसे मारने दौड़े। भगवान् ने सब को रोककर कहा—"भाइयो! आप इस दुष्ट को मारें नहीं। मैं अब तक अपनी बूआ को दिये हुए वर के कारण इसे क्षमा करता रहा। किन्तु अब तो इसका अपराध पराकाष्ठा को पहुँच चुका है।"

इस पर धर्मराज ने कहा—"प्रभो! आपने अपनी बूआ को क्या वर दिया था, आप अब तक चुपचाप क्यों बैठे थे, आपने अभी तक एक शब्द भी क्यों नहीं कहा, आप पृथ्वी पर लकीर क्यों कर रहे थे। कृपया हमारी इन बातों का प्रथम उत्तर दें, तब शिशुपाल को दण्ड दें।

यह सुनकर भगवान् सबको सुनाते हुए मेघ गम्भीर वाणी में धर्मराज युधिष्ठिर को सम्बोधन करके कहने लगे—"धर्मराज! मेरे पाँच बूआ हैं। एक बूआ के तो आप लडके हैं। एक मेरी श्रुतश्रवा नाम की बूआ का विवाह चेदि देश के महाराज दमघोष के साथ हुआ। उसी के उदर से यह दुष्ट शिशुपाल पैदा हुआ। यह मेरा फुफेरा भाई है। जब यह पैदा हुआ था, तो इसके चार हाथ थे और तीन नेत्र। पैदा होते ही बालकों की भाँति रोया

नहीं गधे की भाँति रेंका था। इसे देखकर मेरे फूफा फूफी तथा अन्यान्य लोग बड़े दुखी हुए। तब आकाशवाणी हुई कि यह बड़ा बली शूरवीर और श्रीमान होगा। आप लोग इससे डरें नहीं। यह इतना बली होगा कि इसे महाकाल के अतिरिक्त कोई भी पुरुष मार नहीं सकता। इसे मारने वाला पृथ्वी पर पैदा भी हो चुका है।

यह सुनकर मेरी बूआ हाथ जोड़कर विनीत भाव से बोली—"जिस देवने हमें यह बात बताई है, वह कृपा करके यह भी बतावें कि इसकी मृत्यु किसके हाथ से होगी।"

तब फिर आकाशवाणी हुई—"जिसकी गोद में जाने से इसका तीसरा नेत्र तथा दो हाथ गिर जायँ वही इसे मारेगा।"

यह सुनकर चेदिराज महाराज दमघोष ने सब राजाओं को बुलाया। ऐसे अद्भुत बालक का जन्म सुनकर देश देशान्तरों से नित्य ही बहुत से राजा इसे देखने आने लगे। राजा सबकी गोद-में उस बालक को बिठाते, किन्तु किसी की भी गोद में जाने पर इसके हाथ और नेत्र नहीं गिरे। हमने भी यह बात सुनी कि हमारी फूआ के एक ऐसा अद्भुत बालक हुआ है, तो हम और बलदाऊ जी दोनों इसे देखने गये। मेरी बूआ ने मेरी गोदी में भी इसे बिठाया। मेरी गोदी में आते ही इसका एक नेत्र तथा दोनों हाथ गिर गये। यह देखकर मेरी बूआ बहुत डरी और उसने दीनता के साथ कहा—"कृष्ण! तुम दोनों के रक्षक हो, भयभीतों के भय को हरने वाले हो, मेरे ऊपर कृपा रखना। मुझे एक वर दो।"

मैंने कहा—"बूआ! तुम कैसी बातें कर रही हो, हम तो तुम्हारे बच्चे हैं, तुम मुझसे जो कहोगी, वही मैं करूँगा।"

बूआ ने कहा—"भैया, मेरे इस बच्चे के ऊपर कृपा करना

यह कोई अपराध भी करे तो उसे क्षमा कर देना। इसके अपराध की ओर ध्यान न देना।"

मैंने कहा—"बूआ! तुम एक अपराध की बात कहती हो, यह मारने योग्य सौ भी अपराध करेगा, तो मैं इसे क्षमा कर दूँगा। यदि सौ से अधिक इसने अपराध किये, तो फिर मैं इसे क्षमा न करूँगा।"

बूआ ने कहा—"बस भैया! तुमसे यही चाहती हूँ, तुम इसके सौ अपराधों को क्षमा कर देना।"

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र धर्मराज से युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! यही कारण है, मैं अब तक इसकी सब गालियों को चुपचाप सुनता रहा, मैंने इसकी एक बात का भी न बुरा माना न विरोध ही किया। मैं इसकी प्रत्येक गाली पर एक लकीर करता रहा। आप मे से कोई भी आकर इन लकीरों को गिन ले, ये सौ से अधिक हो गयी। अब मैं अपनी बूआ से की हुई प्रतिज्ञा के बन्धन मे नहीं हूँ। अब मैं इसे मार दूँ, तो कोई मुझे दोष मत देना।"

यह सुनकर शिशुपाल खिलखिला कर हँस पड़ा और हँसते-हँसते बोला—"कृष्ण! तू बड़ा बातूनी है। बातें बनाना तो ऐसी जानता है कि भले-भले लोग तेरी बातों मे आ जाते है। वरदान की व्यर्थ आड लेकर तू अपनी कायरता को सिद्ध क्यों कर रहा है। मुझे तेरी कृपा की आवश्यकता नहीं। यदि तुझमे बल वीर्य हैं, तो आजा, मेरे तेरे दो-दो हाथ हो जायँ। यह कहकर वह भगवान् के ऊपर प्रहार करने दौड़ा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शिशुपाल की ऐसी अभिमान पूर्ण और नीचता से भरी बातों को सुनकर तथा उस अपनी ओर आक्रमण के लिये आते देखकर भगवान् ने उसके ऊपर तीक्ष्ण धारवाला सुदर्शन चक्र छोड़ा। उस चक्र के ७

उसका सिर धड़ से पृथक् हो गया। सबने आश्चर्य और विस्मय के साथ देखा, शिशुपाल के शरीर से निकला हुआ तेज भगवान

के श्री अङ्ग में उसी प्रकार समा गया, जैसे चिनगारी अग्नि में समा जाती है। छुद्र नदियाँ महानदी में समा जाती हैं और महानदी समुद्र में समा जाती है।"

शिशुपाल के मरते ही वहाँ वडा भारी कोलाहल हुआ, जो राजा शिशुपाल का पक्ष ले रहे थे, वे सब शान्त हो गये, सबकी दृष्टि बचाकर बहुत से वहाँ से खिसक गये। कुछ जो भीतर ही भीतर शिशुपाल की ओर थे, वे भी अपने को पाडवो का हितैषी सिद्ध करने के लिये वार-वार कहने लगे—"यह शिशुपाल वडा धूर्त था, भगवान् वासुदेव ने इसे मारकर वडा ही उत्तम कार्य किया। यह यज्ञ मे विघ्न करने वाला था।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवान् से इतना द्वेष करने वाले शिशुपाल की सायुज्य मुक्ति कैसे हुई। क्यों इसका तेज भगवान् के श्रीअङ्ग मे मिल गया?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यह तो भगवान् का द्वारपाल था। क्रुद्ध होकर सनकादि मुनियो ने जय विजय को असुर होने का शाप दिया था और फिर कह दिया था, तीसरे जन्म मे भगवान् के हाथों मरकर फिर तुम वैकुण्ठ मे भगवान के पूर्ववत् पार्षद वन जाओगे। वे जय विजय प्रथम जन्म मे हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु हुए, दूसरे जन्म में रावण कुम्भकर्ण हुए और तीसरे जन्म मे वे ही शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए। शिशुपाल को तो यहाँ धर्मराज के राजसूय यज्ञ मे मारकर भगवान् ने मुक्ति दी, दन्तवक्त्र के वध का वृत्तान्त आगे सुनाऊँगा।"

इस प्रकार वडी धूमधाम से शिशुपाल के वलि के अनन्तर धर्मराज का राजसूय यज्ञ पूर्ण हुआ। उस यज्ञ को देखकर सभी प्रसन्न हुए। केवल दुर्योधन को ही उसे देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। महाराज ने यज्ञान्त अवभृत स्नान भी बड़े उत्साह के साथ किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमे धर्मराज के राजसूय यज्ञ के अवभृत स्नान का भी वृत्तान्त सुनावें और को भी वतावें कि दुर्योधन को अपने भाई के ही इस

यज्ञ को देखकर दुःख क्यों हुआ। उसका तो धर्मराज ने सबसे अधिक सम्मान किया था। एक प्रकार से उसे ही सम्राट् मान लिया था। बड़े-बड़े राजा उसे ही भेंट देकर प्रणाम करते, फिर उसे क्लेश क्यों हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी अच्छी बातें भी बुरी लगती हैं। उसके अभ्युदय से भी क्लेश होता है, अच्छी बात है, अब मैं आपको उसी कथा को सुनाता हूँ।"

छप्पय

तब तैं हौं गिनि रह्यो भये अपराध अधिक शत।
अब हौं मारूँ जाइ होहि जामें सबको हित॥
यो कहिकें घनश्याम सुदरशन चक्र चलायो।
करि धड़ तैं सिर पृथक् सभा महँ काटि गिरायो॥
तेज निकसि शिशुपाल तन-तैं हरि तन महँ मिलि गयो।
तीन जनम महँ द्वेष तैं, भजि पुनि प्रभु पार्षद भयो॥
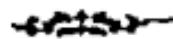
धर्मराज के राजसूय का अवभृत स्नान

[११५४]

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ७५ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

चेदिराज बलि चढ़ी भयो मख पूरो तब हीं।
पाइ मान सन्तुष्ट भये आगत नृप सब हीं॥
दई दछिना विपुल कनक, धन, रतन लुटाये।
सब सुर, नर गन्धर्व निरखि मख परम सिहाये॥
पूरन मख करि हरि सहित, धरमराज अति मुदित मन।
सङ्ग लिये नर नारि सब, चले न्हान अवभृत करन॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् धर्मराज के यज्ञ में जब ऋत्विक्, सदस्य तथा बहुज्ञ पुरुषों का एवं अपने बन्धु बान्धवों का सुमधुर वचनों द्वारा तथा नाना प्रकार की सामग्री एवं दक्षिणादि द्वारा भली प्रकार स्वागत सत्कार हो चुका और चेदिदेश का शिशुपाल जब शरीर त्याग कर सात्वतपति भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में प्रविष्ट हो चुका, तब महाराज युधिष्ठिर ने श्री गंगाजी में यज्ञान्त अवभृत स्नान किया।"

मनुष्य में और पशुओं मे इतना ही अन्तर है, कि पशु अपने लिये नयी मर्यादा बना नहीं सकते पिछली मर्यादा को स्वतः तोड़ नहीं सकते। मनुष्य अपने लिये नई समाजिक धार्मिक मर्यादा देश काल के अनुसार स्थिर कर सकता है, प्राचीन परिपाटियो का उल्लङ्घन भी कर सकता है। जो बात किसी समय अविहित है, वही दूसरे समय विहित हो जाती है, होलिका के दिन श्वपच स्पर्श विहित है। कुलवती नव वधुओं के लिये सामान्यतया परदे मे रहने का नियम है किन्तु विवाह के समय, मृतकादि शोक के समय, पर्व और उत्सवों के समय यह नियम शिथिल हो जाता है, वे सबके सम्मुख निकलती हैं। उत्सव-पर्वों पर होली के समय तथा अन्यान्य मंगल कृत्यों में सरसता का प्रवाह स्त्रियों के ही द्वारा बहता है। वे अपने देवरो के साथ सुन्दर सरस क्रीड़ा करके स्वयं भी प्रसन्न होती हैं तथा समस्त दर्शकों के हृदय में भी एक प्रकार की सुखद् सरसता का संचार करती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ बड़ी धूम धाम से सम्पन्न हो गया। अब ब्राह्मणादि भोजन कराके धर्मराज बड़े ठाट-बाट से यज्ञ का अवभृत स्नान करने के निमित्त सदल बल भगवती भागीरथी के तट पर चले आगे-आगे महाराज द्रौपदीजी के साथ रथ में बैठे चल रहे थे, सैकड़ों राजागण उन्हें उसी प्रकार घेरकर चल रहे थे, जिस प्रकार देवेन्द्र को घेरकर सुरगण चलते हैं। यदु, सृञ्जय, काम्बोज कुरु कोसल तथा अन्यान्य देश के राजा सज बज कर धर्मराज का अनुगमन कर रहे थे। राजाओं के मणिमय मुकुट सूर्य के प्रकाश में चमक रहे थे, उनके कंठो में पड़े सुवर्ण और मोतियों के हार दमक रहे थे। रथ, हाथी, घोड़ा और पैदल चलने वाली सेनाओं से बड़ा कोलाहल हो रहा था। सबसे आगे-आगे

मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, ढोल, आनक तथा गोमुख आदि सैकड़ों प्रकार के बाजे बजाने वाले चल रहे थे। उनके पीछे नृत्य करती हुई नर्तकियाँ चल रही थीं। उनके पीछे झुण्ड के झुण्ड बाजे बजाने वाले तथा गीत गाने वाले गवैये चल रहे थे। उनके वीणा, वेणु तथा मजीरा आदि मधुर वाद्यों की मधुर-मधुर ध्वनि हृदय में एक प्रकार की सरसता उत्पन्न कर रही थी। वेदज्ञ ब्राह्मण सस्वर वेद पाठ कर रहे थे। ऋत्विज, पुरोहित, ऋषि मुनि तथा राजाओं से घिरे धर्मराज बड़े उत्साह से चल रहे थे। उनकी बगल में वनमाली भगवान् वासुदेव बैठे थे। धर्मराज के चारों छोटे भाई सेवा में समुपस्थित थे। इस प्रकार नगर से निकल कर सब बड़े उत्साह से गंगाजी के तट पर आये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ शिविकाओं और रथों पर चढ़कर तथा अस्त्र-शस्त्र धारी सैनिकों से घिर कर गंगा तट पर आईं। पांडवों की सभी पत्नियाँ तथा अन्यान्य राजाओं की पत्नियाँ चन्दन, माला, वस्त्र तथा अमूल्य आभूषणों से अलंकृत होकर बड़े आह्लाद और उत्साह के साथ यज्ञान्त अवभृत स्नान में सम्मिलित होने के निमित्त आई थीं।

गंगा किनारे पर पहुँच कर सबने मृत्तिका, पंचगव्य, अपामार्ग, दूर्वा, कुश, यज्ञभस्मादि से विधिवत स्नान किया। स्नानान्तर क्रीड़ा प्रारम्भ हुई। अवभृत स्नान में होलिका की भाँति उत्सव मनाया जाता है। हँसी विनोद की कहने न कहने योग्य बातें कही जाती हैं। एक दूसरे के ऊपर जल, तैल, दूध, दही, केशर कुंकुम की कीच तथा अन्यान्य वस्तुएँ फेंकते हैं। स्त्रियाँ से जिनका जैसा हँसी विनोद का सम्बन्ध होता है, वैसा ही आपस में वर्ताव करते हैं, उनके ऊपर जल छिड़कते हैं, परस्पर में होली खेलते हैं।

द्रौपदी के साथ गाँठ जोड़कर जब धर्मराज स्नान कर .

तब उनके और भी भाई अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ गाँठ बाँधे उनके पीछे खडे थे। उस समय श्यामसुन्दर खिसक गये थे। धर्मराज ने चारों ओर देखकर कहा—"वासुदेव कहाँ गये उनके बिना अवभृत स्नान कैसे हो सकता है।" कुछ लोगों ने बताया श्याम सुन्दर तो रथ में बैठे हैं। तुरन्त अर्जुन दौडकर गये और उन्हें पकड लाये। वे मना ही करते रहे, किन्तु वे कब मानने वाले थे। हँसकर धर्मराज ने कहा—"श्यामसुन्दर! तुम्हारे छिपने की बानि अभी तक जाती नहीं। भला, तुम्हारे बिना यहाँ क्या हो सकता है। तुम्हारे बिना मैं स्नान कैसे कर सकता हूँ। तुम मेरे सामने रहो।"

हँसकर अर्जुन ने कहा—"महाराज! अकेले कैसे रहेंगे, गृहस्थी को अकेले तो कोई कर्म करने का अधिकार नहीं है। जैसे आप गाँठ बाँधकर स्नान कर रहे हैं, वैसे ये भी करें।"

इस पर हँसते हुए भीमसेन बोले—"इनकी एक पत्नी हो तो गाँठ बाँधे सोलह सहस्र एक सौ आठों से गाँठ कैसे बाँधोगे। पीताम्बर में गाँठ ही गाँठ हो जायँगी।"

सहदेव बोले—"महाराज! इसका उपाय तो मैं जानता हूँ। सोलह सहस्र एक सौ आठ कलावे के टुकडे ले लिये जायँ उनके छोर पर एक गाँठ बाँधकर श्याम सुन्दर की पीताम्बर में बाँध दी जायँ दूसरी ओर जो सोलह सहस्र एक सौ आठ पूँछ सी लटकती रहें उनमें एक-एक में सब रानियों की साडियों को बाँध दी जाय।"

यह सुनकर हँसती हुई द्रौपदी बोली—"तब तो सुभद्रा बहिन लाभ में रहेंगी। सबसे पृथक् पृथक् गाँठ बँधाई लेंगी।"

इतने में ही अर्जुन कलावे की गड्डियों को उठा लाये और श्याम-सुन्दर के पीताम्बर में बाँध ही तो दीं। तब तक द्रौपदी बोलीं—"तुम क्या कर रहे हो, बाँधने का काम तो सुभद्रा बहिन का है।"

मलिन बुद्धि वालो के मन म क्षोभ उत्पन्न हो रहा था और अमल विमल मति वाले मनीषी इसे माधव की मोहिनी माया समझकर मुदित हो रहे थे। इस प्रकार बडी देर तक क्रीडा होती रही।

क्रीडा के अनन्तर ऋत्विजो ने धर्मराज युधिष्ठिर से पत्नी सयाज नामक यज्ञ और अवभृत स्नान के समस्त साङ्गोपाङ्ग कर्म कराये। तदनन्तर आचमन कराके फिर अन्तिम स्नान कराया। तब सबने बाहर आकर वस्त्र बदले। उस समय बाजे बजाने वाले उल्लास के साथ गङ्गा तट पर खडे हुए मधुर-मधुर स्वर मे वीन आदि बाजे बजा रहे थे, उनकी ताल मे ताल मिलाकर आकाश में देवता भी दुन्दुभि आदि स्वर्गीय बाजो को बजा रहे थे। आकाश *से देवता पुष्पो की वर्षा कर रहे थे। पृथ्वी पर ब्राह्मण ऋषि* मुनि तथा अन्यान्य प्रजा के पुरुष सार्वभौम महाराज युधिष्ठिर के ऊपर पुष्पो की वृष्टि कर रहे थे। महाराज के स्नान करने के अनन्तर सभी वर्ण के लोगों ने गङ्गाजी मे स्नान किया क्योंकि अवभृत स्नान में सम्मिलित होकर जो स्नान करता है, वह चाहे महापातकी ही क्यो न हो, उसका पातक छूट जाता है। वह निष्पाप हो जाता है, अवभृत स्नान मे सम्मिलित होने का बडा पुण्य बताया है। स्नानान्तर धर्मराज अपनी पत्नियों सहित सुन्दर सुवर्ण मडित दिव्य रथ पर सवार हुए। उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों ताराओं के मध्य में शरद् का पूर्ण चन्द्रमा विराजमान हो, सहस्रो राजा उसकी उपासना कर रहे थे। जब *उन्होंने रेशमी वस्त्र और आभूषणों को धारण किया, तब प्रसन्नता* पूर्वक उन्होंने ऋत्विज सदस्य तथा अन्यान्य ब्राह्मणो को बहुत से बहुमूल्य वस्त्राभूषणो देकर उनका सत्कार किया। तदनन्तर अपने सगे सम्बधियो को, सुहृद्, मित्र तथा कुल परिवार वालो को और अन्य भी विद्योपजीवी पुरुषों का सम्मान किया।

अवभृत स्नान करते समय किसी का मुख काला हो गया

था, कोई हल्दी में सना था। किसी के मुख पर दही पुता था, कोई कीच में ही सना था, किन्तु स्नान के अनन्तर सब दर्शनीय हो गये। सभी सुन्दर सुहावने बहुमूल्य अँगरखी, दुपट्टा, पगड़ी मणिमय मुकुट धारण किये हुए थे। सबके कानों में कुण्डल हिल रहे थे और सबके कण्ठों में सुन्दर मालायें तथा बहुमूल्य हार पड़े हुए थे। स्त्रियाँ भी नये वस्त्राभूषणों को पहिनकर सोलह शृङ्गार करके कंकण किंकिणि तथा कमर की कनक करधनी की छम्म छम्म से दशों दिशाओं को मुखरित-सी कर रही थीं। उस समय महाराज ने बहुत-सा धन लुटाया। याचकों की इच्छायें पूर्ण कीं। सवारी जैसे आई थी वैसे ही बड़े आनन्द के साथ इन्द्रप्रस्थ में पहुँच गयी।

यज्ञ में आये हुए अतिथियों को इन्द्रप्रस्थ में रहते-रहते वर्षों हो गये थे। यज्ञ की समाप्ति के अनन्तर वे सब अपने अपने घरों को जाने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक थे। अतः धर्मराज से अनुमति लेकर ऋत्विक् सदस्य तथा अन्यान्य यज्ञ को देखने आने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र अपने अपने घरों को चले गये। सब राजा गण भी जाने का आग्रह करने लगे धर्मराज ने बड़े सम्मान के साथ उन्हें विदा किया। अपने भाइयों और सगे सम्बन्धियों को उन्हें पहुँचाने के निमित्त उनके राज्य की सीमा तक भेजा। इस प्रकार सबको विदा करके धर्मराज उदास से हो गये। बेटी को विदा करने के अनन्तर तथा उत्सव के पश्चात् उदासी सी छा ही जाती है। उसी समय श्यामसुन्दर ने सकुचाते हुए कहा—"धर्मराज! मेरी इच्छा तो नहीं होती है, कि आप सब को छोड़कर कहीं जाऊँ, किन्तु द्वारका में भी बहुत से कार्य हैं, मुझे भी अब जाने की अनुमति दे दें।"

यह सुनकर धर्मराज के नयनों में जल भर आया। वे अवरुद्ध कण्ठ से कहने लगे—"वासुदेव! आप के बिना तो यहाँ सूना हो

जायगा। आज कल सब सगे सम्बन्धी तथा स्नेही राजाओं के चले जाने से मेरा चित्त उदास हो रहा है। आपके ही कारण मन लगा है। आप भी जाने को कहते हैं, तो मेरी क्या दशा होगी। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें कुछ दिन और निवास करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज के बहुत आग्रह करने करने पर भगवान् कुछ दिन और रह गये। उन्होंने द्वारका के लिये अपने पुत्र साम्बादि को भेज दिया और कहला दिया, मैं अभी कुछ दिनों के पश्चात् आऊँगा। इधर कुल के सम्बन्ध से दुर्योधनादि कौरव भी कुछ दिन इन्द्रप्रस्थ में और रह गये। श्रीकृष्ण भगवान् की कृपा से धर्मराज अपने मनोरथ रूपी समुद्र को सुगमता से पार कर गये। भगवान् के अनुग्रह से उनकी सभी इच्छायें पूर्ण हो गयीं। धर्मराज के यज्ञ के वैभव को देखकर सभी को परम हर्ष हुआ। देश देशान्तरों में लोग यज्ञ की प्रशंसा करते हुए उसी प्रकार नहीं अघाते थे, जिस प्रकार अमृत को पीने से मनुष्य नहीं अघाते हैं। सबको तो आनन्द हुआ किन्तु यज्ञ के महान् वैभव को देखकर दुर्योधन को महान् क्लेश हुआ। पाण्डवों के ऐसे अभ्युदय से वह मन ही मन जल रहा था। ईर्ष्यावश उसे निद्रा नहीं आती थी। उसी समय एक दुर्घटना घटित हो गयी उसका वर्णन में आगे करूँगा।"

छप्पय

गङ्गाजी पै जाइ न्हान की धूम मचाई।
घेरे रानिनि श्याम उलचि जल देह भिगाई॥
पिचकारी प्रभु मारि करें ब्याकुल नारिनि कूँ।
हँसे हँसावें पकरि डुबावें सब साथिनि कूँ॥
रानिनि सँग होरी करत, मलत मुखनि केशरि ललित।
सुमन गिरत शिर कच खुलत, कृष्ण कलित क्रीड़ा करत॥

पांडवों के अभ्युदय से दुर्योधन को ईर्ष्या

(११५५)

यास्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी—
नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७५ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

करि अवभृत इसनान नृपति निज निज पुर गमने ।
सुहृद् बिछोहो निरखि धरम सुत भये अनमने ॥
रहे प्रेमवश श्याम सुयोधन ठहरयो कछु दिन ।
लखि पाडव धन विभव तासु हिय जरत छिनहिं छिन ॥
एक दिवस मय सभा महँ, जल थल भ्रम ताकूँ भयो ।
थल कूँ जल लखि मोह वश, पग रपट्यो पुनि गिरि गयो ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मय दानव की बनाई हुई उस धर्मराज की सभा मे राजाओ की, दैत्येन्द्रो की तथा सुरेन्द्रो की सम्पत्तियाँ सुशोभित थी । उन सब सामग्रियो से द्रुपदराज की सुता द्रौपदीजी अपने पतियोंकी परिचर्या करती थी । ऐसी द्रौपदीजी मे जिसका चित्त आसक्त हो गया है ऐसा दुर्योधन पाडवो के वैभव को देखकर अत्यन्त दुखी हुआ ।"

जो सज्जन पुरुष हैं, उनका हृदय तो दूसरों की उन्नति देखकर प्रसन्न होता है। वे सुखी लोगों को देखकर आह्लाद के साथ मिलते हैं, दुखियों को देखकर दया से द्रवित हो जाते हैं, किन्तु जो खल प्रकृति के होते हैं, वे दूसरों के अभ्युदय को देखकर जल जाते हैं। किसी का बढ़ता हुआ धन वैभव देखते हैं, तो उन्हें ईर्ष्या होती है। कैसे इसकी अवनति हो यही वे सोचते रहते हैं। यद्यपि दूसरों की अवनति होने में उनका कोई लाभ नहीं, फिर भी इतने कलुषित हृदय के होते हैं कि वे सदा दूसरों का अनिष्ट सोचते रहते हैं। पीठ पीछे अपने सगे सम्बन्धी और कुल वालों की भी ऐसी निन्दा करते हैं कि उन बातों से उनके हृदय के द्वेषाग्नि की तीव्रता जान पड़ती है। दूसरों को दुख में देखकर उन्हे आन्तरिक सुख होता है और अपने सम्बन्धी साथियों तक की उन्नति से उन्हें पुत्र शोक से भी बढ़कर शोक होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सज्जनता वश धर्मराज ने तो दुर्योधन को अपने कुल का श्रेष्ठ समझकर राजाओं से भेंट लेने का काम सौंपा था, किन्तु इसका परिणाम बुरा हुआ। ज्यों-ज्यो वह राजाओं की आई हुई भेंटो को देखता, त्यों-त्यो उसकी ईर्ष्या और भी अधिक बढ़ती। पांडवों के इस बढ़ते हुए प्रभाव से उसे अत्यधिक आन्तरिक पीड़ा हो रही थी। उसने देखा लाखों राजा उत्तम से उत्तम भेंट लेकर राजसूय यज्ञ में आये थे। सोना, चाँदी, मणि-माणिक्य, रत्न, कम्बल, रेशमी वस्त्र, मृग चर्म, बाघम्बर, चॅवर तथा अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओं को कहीं रखने को स्थान नहीं था। रत्न ऐसे ही मिट्टी कंकड़ों के ढेर के समान इधर-उधर पड़े थे। हाथी, घोड़ा, रथ तथा ऊंट गौ आदि उपयोगी पशु भेंट में इतने आये थे कि उनके बॉधने को स्थान नहीं रहा। दुर्योधन जिधर में दृष्टि डालता उधर ही उसे चमत्कार सा दिखाई देता था। भोजनोंके लिये वहाँ एक लाख ब्राह्मण साथ बैठते थे। जब लाख

खा चुकते, तब फिर शङ्ख बजता। इस प्रकार दिन भर बजता ही रहता। उस यज्ञ मे बडे-बडे मूर्धाभिषिक्त राजा दासों की भाँति काम कर रहे थे, ब्राह्मणों की जूठी पत्तलों को वे स्वयं बडे हर्ष से उठा रहे थे, हाथों मे झारी लिये सबके हाथ धुला रहे थे, श्रीकृष्ण सबके चरण पखार रहे थे। पाडवों के इतने अधिक सम्मान देख कर उसे ज्वर-सा चढ आया, ईर्ष्या के कारण उसका हृदय जलने लगा। यज्ञ समाप्त हुआ। कुलागत परम्परा के अनुसार उसे सब से पीछे जाना था। इसलिये उसे कुछ दिनों तक और भी ठहर जाना पडा। वह सदा क्रोध में और अभिमान मे भरा रहता था। धर्मराज का महल उत्सव स्वरूप हो रहा था। भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्र जी की सोलह सहस्र रानियाँ जब अपने कटिभार के कारण चरणो के नूपुरों की झनकार करती हुईं मन्थर गीत से इधर-उधर छम्म-छम्म करती हुईं फिरती तो उस समय ऐसा लगता मानो मूर्तिमती ऋद्धि-सिद्धियाँ पाडवों के भवनो में विहार कर रही हैं। वे अपने वक्षःस्थल की कुम्कुम कीच से सने रक्त वर्ण के [illegible] को पहिनकर तथा काली-काली घुँघराली अलकावली से [illegible] हर मुखारविन्द से सुशोभित होकर ईर्ष्यालुओं की [illegible] भी अधिक जागृत करती थीं। द्रोपदी के सौभाग्य के [illegible] तो कहना ही क्या था। उसके पाँचों पति उसे प्राणों से [illegible] प्यार करते थे। सहस्रों दासियों से घिरी वह [illegible] सेवा मे संलग्न रहती थी। उस इतनी भाग्यशालि[illegible] देखकर जिसका मन क्षुभित हो गया था, [illegible] पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी।

एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर मय [illegible] सभा मे सचिवों और भाइयों से घिरे [illegible] जिस प्रकार स्वर्ग में इन्द्र अपनी सभा [illegible] बैठते हैं। उनके चारों भाई उनकी [illegible]

थे। पाडवों के सुहृद, सेवक, मित्र, सम्बन्धी सचिव आचार्य और गुरुरूप पथ प्रदर्शक श्रीकृष्ण उनके समीप बैठे थे। वे पांडवों के भीतरी बाहरी दोनों प्रकार के नेत्र थे। सूत, मागध तथा वन्दीगण उनकी स्तुति कर रहे थे। उसी समय सभा मे जाने की दुर्योधन को भी सूझी। जहाँ वह ठहरा था, वह अन्तःपुर का एक अति उत्तम भवन था। धर्मराज ने उसके सत्कार सम्मान का विशेष प्रबन्ध कर रखा था। सहसा वह अपना सुवर्ण मण्डित मुकुट पहिनकर और हाथ मे खड्ग धारण करके अपने दो-चार भाइयों के साथ धर्मराज की सभा की ओर चला। उसके निकलते ही सहस्रों सेवक द्वारपाल आदि ने उसका अनुगमन किया। सबको उसने डॉट फटकार कर लौटा दिया। उसने कहा—"तुम लोग मेरे पीछे क्यों आ रहे हो? क्या मैंने राजसभा का मार्ग नहीं देखा है। तुम लोग जो बेत्र हाथ मे लेकर मेरे आगे पीछे "इधर पधारिये, इधर पधारिये" कहते हुए चलते हो, इसकी क्या आवश्यकता है? क्या मैं अन्धा हूँ, मुझे मार्ग दिखाई नहीं देता। लौट जाओ तुम सब लोग। मैं अकेला ही जाऊँगा।"

कुरुराज की ऐसी डॉट फटकार सुनकर सबके सब सेवक चुपचाप लौट गये। अब अकेला ही वह अपने भाइयों के साथ अकड़ता हुआ जा रहा था। मयासुर ने उस सभा को इतनी उत्तमता के साथ बनाया था कि कहीं तो नीलम जड़कर ऐसा फरस बना दिया था कि दूर से देखने वालों को जल से भरा हुआ सरोवर दिखाई देता था। कहीं स्फटिक का ऐसा सरोवर बना दिया था कि उसका जल सङ्गमरमर के आँगन मे दिखाई ही नहीं देता था। दूर से सभी उसे स्थल ही समझते थे। दुर्योधन ने देखा इन पांडवों ने मुझे भ्रम में डालने को मार्ग मे पानी भर दिया है, अतः उसने अपने वस्त्रों को समेट लिया, किन्तु वहाँ तो पानी था नहीं। यह देखकर उसने अपनी झेंप मिटाने को वस्त्रों को फटकारा मानो उन

में कोई काडा घुस गया हो उसे खोजने को वस्त्र समेटे हो। कुछ आगे बढकर यथार्थ मे जल का सरोवर था, किन्तु वह मायासुर

को माया मे ऐसा विमोहित हो गया कि उस जल को उसने स्थल समझा वह अकडता हुआ वेग से जा रहा था कि वह सरोवर

में गिर पड़ा। उसके सब वस्त्र भीग गये। वह भीगी बिल्ली की भाँति सटपटाने लगा। शीघ्रता से जल से निकल उसने चारों श्रोर देखा। उसकी इस मूर्खता पर सभासद तथा रानियाँ खिलखिला कर हँस रही थीं। तुरन्त वह भींत के समीप आया। वहाँ उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह द्वार है, ज्यों ही उसमें घुसने का उसने प्रयत्न किया कि उसका सिर भींत में टकरा गया। यह देखकर तो सब और भी अधिक हँसने लगे। भीमसेन ने व्यङ्ग के स्वर में कहा—"धृतराष्ट्रनन्दन! उधर द्वार नहीं है, द्वार तो इधर है, इधर आइये। उधर कहाँ जा रहे हैं।"

धृतराष्ट्रनन्दन कहने से भाव यह था कि जैसे तुम्हारा बाप अन्धा है, वैसे ही तुम भी अन्धे हो। यह कहकर बहुत रोकने पर भी भीमसेन की हँसी न रुकी, वे खिलखिलाकर हँस पड़े। उन्हें हँसते देखकर स्त्रियाँ तथा दूसरे राजा लोग भी हँस रहे थे। धर्मराज का बड़ा क्लेश हो रहा था, वे बार-बार सबको डाँटते डपटते हुए कहते—"हँसी की इसमें कौन-सी बात है, तुम सब लोग ही-ही करके दाँत क्यों निकाल रहे हो? दूसरों के गिरने पर सहानुभूति प्रकट की जाती है या हँसा जाता है।" धर्मराज तो इस प्रकार सबको गम्भीरता पूर्वक डाँट रहे थे, किन्तु हमारे ये कारे देवता सैनों ही सैनों में सबको संकेत भी करते जाते थे और स्वयं भी हँसते जाते थे। हँसना तो इनका स्वभाव ही ठहरा। इनके मुख मण्डल पर सदा सर्वदा हास्य छिटकता रहता है। भगवान् का रुख देखकर धर्मराज के मना करने पर भी सब हँस रहे थे।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ऐसे समय भगवान् को हँसी क्यों सूझी। स्वयं हँसी को न रोक सकते, तो हँस लेते, दूसरों को उन्होंने हँसने के लिये क्यों उभाड़ा? यह तो दुर्योधन की हँसी उड़ानी थी, उसे लज्जित करके कुपित करना था।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यही तो भगवान् वासुदेव को अभीष्ट था। वे भूमि का भार उतारना चाहते थे, इसीलिये तो उन्होने अवतार ही लिया था। दुर्योधन उनकी इच्छा से तो भ्रम मे पड गया। जब तक वह कुपित होकर युद्ध करने को उद्यत न होता, तब तक असुर रूप मे उत्पन्न हुए राजाओ का नाश कैसे होता। भगवान् तो उसे कुपित करके युद्ध करना चाहते थे। जब तक दुर्योधन अपना घोर अपमान अनुभव न करता, तब तक वह सर्वनाशी युद्ध करने का कभी प्रयत्न न करता। भगवान् ही जिसे कुपित करके लडाना चाहे, फिर उसकी क्या सामर्थ्य है जो न लडे। युद्ध न करे।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! होना क्या था, हँसी का जो परिणाम होता है, वही हुआ। धर्मराज ने स्वय उठकर उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की। तुरन्त नये धुले शुभ्र स्वच्छ वस्त्र मँगाये गये। दुर्योधन से जैसे तैसे वस्त्र बदलवाये। इधर-उधर की मीठी बातें कहकर उसे सतुष्ट करना चाहा, किन्तु उसके तो रोम-रोम से क्रोध रूपी अग्नि की चिनगारियाँ निकल रहीं थीं। उसने तुरन्त कहा—"महाराज ! मुझे बहुत दिन हो गये, अतः अब मुझे हस्तिनापुर जाने की अनुमति दीजिये।"

धर्मराज ने बडे स्नेह से सम्पूर्ण ममता बटोर कहा—"न, भैया ! अभी से तुम चले जाओगे, तो यहाँ का काम कैसे चलेगा। अभी तो यहाँ बहुत से राजा ठहरे हैं। तुम्हे ही तो सब काम करने हैं। जब इतने दिन तुमने निर्वाह किया है, कुछ दिन और रह जाओ।" इस प्रकार धर्मराज ने बहुत कुछ कहा, किन्तु उसके मन मे बडी लज्जा ग्लानि बैठ गयी, वह सिर नीचा किये हुए क्रोधानल से जलता हुआ, सभा भवन से तुरन्त ७-

हस्तिनापुर को चल दिया। उसके सेवक सैनिक पीछे से सामान लेकर आये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दुर्योधन के जाते ही सभी सज्जन लोग हाहाकार करने लगे। सब ने एक स्वर में कहा—"यह अच्छा नहीं हुआ। धर्मराज का चित्त भी खिन्न हो गया। वे अनमने से होकर चिन्ता में पड़ गये। केवल भगवान श्री कृष्णचन्द्र ही प्रसन्न थे। इस प्रकार राजसूय यज्ञ के अन्त में ही महाभारत युद्ध का बीज बो गया। द्यूत सभा में वह अंकुरित हो गया, वनवास में पल्लवित और पुष्पित हुआ। पीछे उसमें जो विपाक्त फल लगे, उनसे कुरुकुल का तथा पृथ्वी के समस्त राजाओं का नाश हो गया। उसका वर्णन विस्तार के साथ महाभारत में है। प्रसंगवश उसकी कुछ कथायें मैंने पीछे कहीं हैं कुछ आगे भी समयानुसार कहूँगा। इस प्रकार भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी की कृपा से धर्मराज युधिष्ठिर का यज्ञ विधि विधान पूर्वक बड़ी धूम धाम से समाप्त हुआ। भगवान् राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग से बहुत दिनों तक इन्द्रप्रस्थ में रहे आये। इधर द्वारकापुरी को श्रीकृष्ण से रहित देखकर तथा अपने मित्र शिशुपाल का बध सुनकर भगवान् के द्रोही आसुरी प्रकृति के राजा शाल्व ने भगवान् की पुरी पर चढ़ाई कर दी। उसने यादवों से बड़ा घनघोर युद्ध किया।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! यह शाल्व कौन था? यादवों से यह द्वेष क्यों मानता था। कृपा करके आप हमें शाल्वा का वृत्तान्त सुनाइये। भगवान् ने इसका वध किया या नहीं।"

सूतजी बोले—"महाराज! इसी के वध करने के लिये तो भगवान् को तुरत द्वारका जाना पड़ा। भगवान् की अनुपस्थिति में इसने यादवों पर अकस्मात् प्रहार कर दिया इससे यादव बड़े

व्यथित हुए। अब मैं आपको शाल्व और यादवों के युद्ध की ही कथा सुनाता हूँ। आप लोग उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लखि पाडव नृप हँसे धरमसुत बहुत निवारे।
किन्तु कौतुकी कृष्ण सैंन महँ सबहिं उभारे॥
दुरजोधन अति दुखी भयो खीज्यो खिसियायो।
सबहिँ व्यंग तैं कहेँ अधने अंधो जायो॥
मर्यो क्रोधमें चलि दयो, हथिनापुर महँ आइकें।
छलें पाडवनि द्यूत महँ, सोचें गुट्ट बनाइकें॥

द्वारका पर शाल्व की चढ़ाई

[११५६]

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७६ म० १ श्लोक)

छप्पय

इत यदुवर तैं रहित द्वारका शाल्व निहारी।
चढ़िकें सौभ विमान लड़ाई कीन्ही भारी॥
करत नगर विध्वंस लड़ै नहिँ हारत अधमति।
यादव वंश विनाश हेतु तप कीन्हों खल अति॥
औघरदानी शम्भुने, इच्छित वर ताकूँ दयो।
वायुयान वर मय रचित, पाइ मत्त दुरमति भयो॥

भगवान् जब जैसी लीला करना चाहते हैं, तब तैसी ही प्राणियों की बुद्धि बदल देते हैं। नहीं तो त्रिभुवन सुन्दर, भुवन-मोहन, जगत्पति के प्रति वैर भाव कर ही कौन सकता है? वैर करके कोई उनका विगाड ही क्या सकता है? उनके आश्रितों का

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन्होंने लीला के लिये ही मनुष्य शरीर धारण किया उन श्रीकृष्णचन्द्र ने जिस प्रकार सौभपति शाल्व को मारा था, उस अद्भुत चरित्र को आप और भी श्रवण करें।"

अनिष्ट कोई कर ही नहीं सकता, किन्तु क्रीडा करने के निमित्त वे किसी की मति को विपरीत बना देते हैं, जिससे द्वेषवश वह भगवान् से और भगवत्भक्तों से विरोध करे। विरोध में ही संघर्ष होता है। वह संघर्ष ही उनकी क्रीडा है, उसी संघर्ष में वे अन्य पात्रों के साथ क्रीडा करते हैं। वह क्रीडा ही भक्तों के लिये परम श्रवणीय चरित्र हैं। खेल तो खेल ही है, चाहे वह शृंगार का खेल हो अथवा हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक अथवा शान्त हो सब समान ही हैं। उनमें भगवान् और भगवत्भक्त लिप्त नहीं होते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दुर्योधन मयनिर्मित सभा में गिरने से बड़ा दुखी हुआ, उसने इसमें अपना बड़ा अपमान अनुभव किया। जल तो वह पहिले ही से रहा था। ईर्ष्यावश विक्षुब्ध तो वह प्रथम ही था। अब प्रज्वलित अग्नि में इस घटना ने घृताहुति का कार्य किया। वह चला गया, तो धर्मराज उदास हुए। श्रीकृष्ण नित्य ही द्वारका जाने की तैयारियाँ करते, किन्तु कोई न कोई कारण बताकर धर्मराज उन्हें प्रेम पूर्वक रोक लेते।

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने धर्मराज से कहा—"राजन्! आप सबको छोड़कर मेरी कभी भी जाने की इच्छा नहीं होती, किन्तु आजकल मुझे बड़े-बड़े अपशकुन दिखाई दे रहे हैं। इस कारण मुझे सन्देह हो रहा है, कि अवश्य ही द्वारका में कुछ अघटित घटना घटित हो गयी है, अतः मुझे अब जाने की आज्ञा दें।"

आँखों में आँसू भरकर धर्मराज बोले—"वासुदेव! अब मैं कैसे कहूँ। मैं कभी चाहूँगा, कि आप मुझसे कभी पल भर भी पृथक रहें? किन्तु अब मैं अधिक रोकने का आग्रह भी नहीं कर सकता। द्वारका भी आपके बिना सूनी हो जाती है।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, कोई विशेष कार्य होता, तब तो

रहना अनिवार्य ही था। अब आपका यज्ञ सकुशल समाप्त हो ही गया। यज्ञ में आये हुए प्रायः समस्त नृपतिगण चले ही गये। यों तो फिर न कभी आप जाने को कहेंगे और न मेरी ही जाने की इच्छा होगी।"

धर्मराज ने कहा—"प्रभो! यज्ञ के कर्ता धर्ता तथा पूर्ण कराने वाले तो आप ही हैं। आपकी कृपा से ही सब कुछ हुआ है, नहीं तो मुझमें ऐसी सामार्थ्य कहाँ है। इतने बड़े-बड़े पृथ्वी के समस्त राजाओं ने श्रद्धा पूर्वक भेंटे दी और दासों की भाँति यज्ञ में कार्य किया।"

यह सुनकर भगवान् ने अत्यंत स्नेह से धर्मराज को पकड़ लिया और पकड़े ही पकड़े उन्हें भीतर अंतःपुर में कुन्तीजी के पास ले गये और बोले—"बुआ! देख, तुम्हारा पुत्र सम्राट बन गया। इनकी राजसूय यज्ञ करने की प्रबल इच्छा थी वह पूर्ण हो गयी। यज्ञ का सब कार्य समाप्त हो गया। अब मुझे भी जाने की अनुमति मिलनी चाहिए।" इतना सुनते ही कुन्तीजी श्रीकृष्ण के भावी वियोग का स्मरण करके रोने लगीं। उसी समय सुभद्रा और द्रौपदी वहाँ आ गयीं। श्रीकृष्ण के गमन की बात सुनकर वे भी उदास हुईं उनके भी नेत्रों की कोरों से अश्रु बह रहे थे। भगवान् ने ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन कराया और रथ में बैठकर सब से अनुमति लेकर वे द्वारका की ओर चले। प्रेम में विह्वल हुए धर्मराज युधिष्ठिर भाइयों के सहित उनके पीछे चले। धर्मराज को पीछे आते देखकर भगवान् ने रथ खड़ा कर दिया और स्वयं रथ से उतरकर सबके समीप आये। फिर सबसे भली भाँति बार-बार मिल भेंट कर वे द्वारकापुरी को चले गये। पाडवों को भगवान् के बिना सब सूना सूना दिखायी देता था।

इधर मयदानव निर्मित सभा में जल में स्थल का भ्रम हो जाने से जो दुर्योधन ने अपना अत्यधिक अपमान अनुभव किया,

उसका परिणाम बड़ा भयङ्कर हुआ। वह पांडवों को नीचा दिखाने के लिये निरन्तर उपाय सोचने लगा। उसका एक मामा शकुनि था, वह बड़ा भारी धूर्त और जुआड़ी था। उसने बीरा उठाया, जुए में युधिष्ठिर को मैं जीत लूँगा। आप अपने पिता धृतराष्ट्र से द्यूत सभा करने की अनुमति भर ले लें।"

इस बात से दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ जिस किसी भाँति उसने अन्धे धृतराष्ट्र से जुआ की अनुमति ले ली। "यद्यपि अन्धे धृतराष्ट्र जुए के दोषों को जानते थे, किन्तु पुत्र स्नेह के कारण इच्छा न रहने पर भी अनुमति देनी पड़ी।"

धर्मराज को द्यूत के लिये आमन्त्रित किया गया। उस समय का कुछ ऐसा सदाचार था, कि एक क्षत्रिय को दूसरा क्षत्रिय युद्ध के लिये या द्यूत के लिये आमन्त्रित करे, तो वह मना करने में अपना अपमान समझता था। द्यूत और युद्ध की चुनौती को श्रेष्ठ क्षत्रिय स्वीकार कर ही लेते थे। इसीलिये धर्मराज द्यूत के निमंत्रण को पाकर हस्तिनापुर आये। जूआ हुआ उसमें शकुनि ने बड़ा छल किया। धर्मराज जुए में अपना सर्वस्व हार गये, यहाँ तक कि अपनी पत्नी द्रौपदी को भी हार गये। पीछे धृतराष्ट्र ने वर देकर द्रौपदी को मुक्त कर दिया और पांडवों का राज्य भी लौटा दिया। पांडव इन्द्रप्रस्थ को जा रहे थे, कि शकुनि की सम्मति से फिर धर्मराज को लौटाया गया और अब के जूए में यह पण लगाया कि जो हारे वही बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास करे। अज्ञातवास की समाप्ति के पूर्व यदि उसका पता लग जाय, तो फिर बारह वर्ष अज्ञात वास हो।" दुर्योधनादि कौरवों ने सोचा—"पांडव ऐसे बली और प्रसिद्ध हैं, कि वे चाहे जहाँ भी जाकर छिपें उनका पता लग ही जायगा। इस प्रकार पूरा जीवन उन्हें वन में ही बिताना पड़ेगा।"

यही सोचकर उन्होंने यह पण रखा। धर्मराज ने इसे स्वीकार

किया। शकुनि के छल से अब के भी धर्मराज ही की हार हुई। वे वल्कल वस्त्र पहिनकर कुन्ती जी को विदुर जी के यहाँ रखकर द्रौपदी तथा भाइयों के सहित वन में चले गये और वहीं वनों में रहकर वनवासियों का-सा जीवन बिताने लगे। कल तक जो सम्राट थे, आज वे वनवासी हो गये काल की कैसी कुटिल गति है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने आकर जूए को रुकवा क्यों नहीं दिया। धर्मराज की ऐसे समय पर सहायता क्यों नहीं की?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज इस सब को कराने वाले भगवान् ही तो थे। भगवान् की इच्छा से ही तो हुआ। वैसे लौकिक दृष्टि से देखा जाय, तो भगवान् शाल्व से युद्ध कर रहे थे। जब तक शाल्व को मारा तब तक पाडव वनवासी बन चुके थे।

शौनक ने पूछा—"सूतजी! आप प्रथम हमें शाल्व वध की कथा सुनावें। यह शाल्व भगवान् से क्यों द्वेष करता था? भगवान ने इसे क्यों मारा?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! अब मैं आपको शाल्व वध की ही कथा सुनाता हूँ। वह राजा शाल्व बडा वली था। मार्तिकावत नामक नगर मे यह राज्य करता था। जरासन्ध और शिशुपाल का यह बडा मित्र था। जैसों की मित्रता तैसों के ही साथ होती है। ये लोग सब आसुरी प्रकृति के थे, भगवान से द्वेष मानते थे। शिशुपाल जब कुण्डिनपुर मे महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी जी के साथ विवाह करने गया था, तब बरात में जरासंध आदि राजाओं के साथ यह शाल्व भी गया था और यह भी सब राजाओं की भाँति युद्ध में हार गया था। यादवों से युद्ध में हारने पर इसे बडा क्लेश हुआ। यह राज्य पाट छोड़कर उत्तराखण्ड में घोर तपस्या करने चला गया। जाते समय वहीं कुण्डिनपुर में

यह सुनकर शाल्व अत्यन्त प्रसन्न हुआ। भगवान् ने मय-दानव को आज्ञा दे दी। उसने तुरन्त एक अत्यन्त सुन्दर समस्त युद्धोपयोगी सामग्रियों से युक्त विमान बनाकर उसे दे दिया। उसे लेकर वह अपने घर गया। उसने आकर यादवों पर चढ़ाई करने के निमित्त शनैः-शनैः एक बड़ी भारी सेना एकत्रित करली। इतनी बड़ी सेना और सौभ विमान के रहते हुए भी जब भगवान् द्वारका में निवास करते तब उसका साहस उन पर चढ़ाई करने का नहीं हुआ।

जब भगवान् धर्मराज के राजसूय यज्ञ में इन्द्रप्रस्थ चले गये तब शाल्व ने द्वारकापुरी पर चढ़ाई करने का अच्छा अवसर देखा। उसी समय उसने सुना श्रीकृष्णचन्द्र ने मेरे सखा शिशुपाल का भरी सभा में चक्र से सिर काट लिया है, तब तो उसका क्रोध सीमा का उल्लङ्घन कर गया। उसने अपनी बड़ी भारी चतुरङ्गिनी सेना सजाई और द्वारकापुरी पर आकस्मात् चढ़ाई कर दी। उसने पुरी को चारों ओर से घेर लिया। यादवों को कल्पना भी नहीं थी, कि कोई हमारे ऊपर चढ़ाई करेगा। वे तो निश्चिन्त होकर आमोद-प्रमोद में लगे हुए थे। शाल्व की सेना ने सहसा चढ़ाई कर दी और द्वारावती का विध्वंस करने लगी। सैनिक पुरी के सुन्दर-सुन्दर उद्यान और उपवनों को, गोपुर, द्वार, प्रासाद और अट्टालिकाओं को तथा मुँडेलियाँ विहारगृह तथा सभा भवनों को तोड़ने फोड़ने लगे। स्वयं शाल्व अपने सौभ नामक विमान पर चढ़कर उसी में से अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगा। विमान में से ऐसे अस्त्र गिरते थे कि ऊपर से तो गिरते समय एक प्रतीत होते, किन्तु जब वे फट जाते तो असंख्यों हो जाते। ऊपर से बड़े पहाड़ों की शिलायें गिरने लगीं। बड़े-बड़े वृक्ष कट-कटकर गिरने लगे। विषधर सर्प ऊपर से गिरते जो काट लेते। आकाश से निरन्तर ओले गिरने लगे। प्रचण्ड बवण्डर के कारण सम्पूर्ण

दिशायें धूलि से व्याप्त हो गयीं। जैसे पहिले त्रिपुर निवासी असुर पृथ्वी के रहने वालों को आकाश से अस्त्र वर्षा कर पीडित करते थे, वैसे ही शाल्व द्वारकावासियों को पीडित करने लगा।

अब तो यादवों को चेत हुआ। उन्होंने नगर में आमोद-प्रमोद की रोक लगा दी। यह आज्ञा प्रसारित कर दी कि कोई न तो मदिरा पान करे और न नाटक अभिनय ही देखे। नगर के सब नट नर्तक निकाल कर बाहर कर दिये। सैनिकों को सुसज्जित होने की आज्ञा दी। नगर के चारों ओर लोहे के बने त्रिकोण ऐसे काँटे बिछवा दिये कि वे जिधर भी लुढक जायँ उधर ही पैरों में घुस जायँ। उनके ऊपर से शत्रु का एक भी सैनिक नहीं आ सकता था द्वारकापुरी में प्रवेश करने के जो लोहे के पुल थे वे उखाड लिये गये। स्थान-स्थान पर सैनिकों का पहरा बैठा दिया गया। ऊपर से गिरने वाले अस्त्र नीचे आने ही न पावें बीच के बीच में ही उड जायँ ऐसे यन्त्र लगा दिये गये। स्थान-स्थान पर आक्रमण रोकने के लिये विध्वंस कारिणी, भुसुन्डियाँ, शतघ्नियाँ तथा अन्य भी गोला फेंकने वाले यन्त्र स्थापित किये गये। बडी-बडी सुरगें तुरन्त तैयार की गयीं। मुख्य मुख्य स्थानों पर सैनिकों के लिये अन्न पानी की ऐसी व्यवस्था कर दी गयी, कि चाहे जितने दिन युद्ध चले उन्हें आहार की न्यूनता न होने पावे। युद्ध में काम आने वाली वस्तुएँ जैसे अग्नि बाणों को ठेलनेवाले आयुध तोमर, अकुश, शतघ्नी, लाङ्गल, भुशुण्डी, पाषाण खड, त्रिशूल, फरसे, लोहचर्म आच्छादित ढालें, गन्धक तथा अन्य तुरन्त अग्नि लगा देने वाली वस्तुएँ विपुल मात्रा में एकत्रित थीं। साराश यह कि शत्रु के आक्रमण को रोकने के निमित्त जितनी तैयारियाँ होनी चाहिये उतनी तैयारियाँ महाराज उग्रसेन की आज्ञा से की गयीं।

नगर वासी शाल्व के आक्रमण से भयभीत से हो गये थे। क्योंकि स्थल की लडाई होती, तो उसका सामना भी करते।

शाल्व तो ऊपर आकाश से अस्त्र शस्त्रों की वर्षा कर रहा था। यदि एक स्थान निश्चित होता, तो वहाँ प्रत्याक्रमण की तथा अस्त्र शस्त्रों के रोक थाम की व्यवस्था भी की जाती। शाल्व का वह वायुयान तो मय दानव कृत था कभी तो वह एक दिखाई देता, कभी अनेक रूपों में दीखता। कभी अदृश्य हो जाता, कुछ काल के पश्चात् फिर दिखाई देने लगता। कभी-कभी तो वह पृथ्वी पर उतर आता वहाँ से निरन्तर अस्त्रों को फेंकता, कभी आकाश में उड़ता हुआ सम्पूर्ण नगरी पर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करने लगता। कभी उसे समुद्र पर तैरते हुए लोग देखते। कभी पर्वत के शिखर पर स्थिर हो जाता। इस कारण सभी उसके इन कार्यों से विस्मित और भयभीत से हो गये थे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र श्रीप्रद्युम्न जी ने जब देखा, कि नगरनिवासियों के ऊपर तो शाल्व के विमान ने आतङ्क स्थापित कर रखा है, तब आप सबको सान्त्वना देते हुए मेघ गम्भीर वाणी से कहने लगे—"डरने का कोई काम नहीं। मैं अभी जाकर युद्ध मे शत्रु को परास्त करूँगा।"

प्रद्युम्नजी के ऐसे वीरता पूर्ण वचनों को सुनकर सबको धैर्य हुआ। सबको धैर्य बँधाकर वासुदेवनन्दन श्री प्रद्युम्नजी, सात्यकि चारुदेष्ण, साम्ब, अक्रूर तथा उनके भाई हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक, सारण तथा अन्यान्य बड़े-बड़े धनुर्धर महारथी यादव वीरों के साथ शाल्व से लड़ने चले। इनके साथ अपार चतुरंगिनी सेना थी। हाथी घोड़ा, रथ और पदाति सेना से सुरक्षित समस्त शूरवीर साहस के साथ समर के लिये जा रहे थे। वे सब के सब अंगों की रक्षा के लिये दृढ़ कवच धारण किये हुए थे। इन सबके सेनापति प्रद्युम्न जी थे। सेना सहित श्रीकृष्ण नन्दन प्रद्युम्नजी को युद्ध के लिये देखकर शाल्व ने गर्जना की। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। अब प्रद्युम्न का और शाल्व का जैसे

युद्ध होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

इन्द्रप्रस्थ प्रभु गये द्वारका पै चढ़ि आयो।
लैकें सौभ विमान नगर महँ दुन्द मचायो॥
अस्त्र शस्त्र बरसाइ तुरत नभ महँ छिपि जावै।
जल महँ उतरे फेरि सतत गोला बरसावै॥
हरिनन्दन प्रद्युम्न तब, सजि सेना रिपु दलन हित।
चले संग यादव सुभट, भये सौभ लखि चकित चित॥

प्रद्युम्न और शाल्व का युद्ध

[११५७]

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैश तम इवोष्णगुः ॥*
(श्री भाग० १० स्क० ७६ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

डरे नहीं प्रद्युम्न प्रथम रिपु माया नाशी ।
छोड़े अगनित बान कृष्ण नन्दन सुखराशी ॥
कीयो मूर्छित शाल्व सचिव ताको पुनि आयो ।
देख्यो आवत शत्रु तबहिँ रथ तुरत घुमायो ॥
सहसा श्रीप्रद्युम्न हिय, गदा मारि गरज्यो सचिव ।
वज्र सरिस हिय महँ लगी, दुखित सारथी भयो तब ॥

परस्पर में दो वीर लड़ते हैं, तो दोनों में से एक की जय दूसरे की पराजय होती ही है। जो लड़ने चलता है, वह अपने को सर्वश्रेष्ठ शूर समझता है। जिसे अपनी शूरता में सन्देह होगा, वह दूसरे से युद्ध ही क्यों करेगा। कभी-कभी अपने बल पर पूर्ण विश्वास रहने पर भी, बली पुरुष साधारण शूरवीर से पराजित हो जाता है, किन्तु उस पराजय से भयभीत होकर पुनः

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब प्रद्युम्नजी का शाल्व के साथ युद्ध होने लगा, तब शाल्व ने माया की। उस शाल्व की सम्पूर्ण माया को प्रद्युम्नजी ने दिव्यास्त्रों से एक क्षण में उसी प्रकार नाश कर दिया, जिस प्रकार सूर्यदेव रात्रि के अन्धकार को नाश कर देते हैं।"

लड़ने की इच्छा करे, तो कायरता है, किन्तु जो पराजय को भी युद्ध का एक सामान्य अङ्ग समझकर उसकी उपेक्षा करता है और वीरता के साथ पुनः शत्रु के सम्मुख समर में आ डटता है, वही वीर है। ऐसे साहसी और निर्भीक वीर की कभी पराजय नहीं होती। वह जब तक जीवित रहता है, तब तक यश प्राप्त करता है और जब शत्रु के सम्मुख वीरता के साथ अस्त्र शस्त्रों से मरता है, तो मरकर स्वर्ग जाता है। वीरों का न कभी अपयश होता है, न उनकी मृत्यु ही होती है, वे तो सदा अजर-अमर बने रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शाल्व ने जब द्वारावती पुरी पर चढ़ाई की, तब प्रद्युम्नजी अपनी सेना सजाकर उसका सामना करने के लिये चले। उसने आसुरी माया फैला रखी थी। उसे प्रद्युम्नजी ने आते ही अपने दिव्य अस्त्रों द्वारा नाश कर दिया। सर्वप्रथम उन्होंने शाल्व के सेनापति पर पचीस बाणों से प्रहार किया। वे बाण सामान्य बाण नहीं थे, उनकी नोकें तीक्ष्ण और उत्तम लोहे की थीं। उनके पङ्ख सुवर्ण के थे। वे दुहरे करने पर भी टूटते नहीं थे, क्योंकि उनमें के बीच से जोड़ दिखाई नहीं देते थे, सभी सम थे। सेनापति को बाणों से व्यथित करके उन्होंने एक साथ ही बड़े लाघव से सौ बाण तो सौभ के मारे और भी जितने उसके साथ सैनिक थे, सबमें एक एक बाण मारा। जो एक एक सेना की टुकड़ी के अधिनायक थे, उनके दस-दस बाण मारे और तीन तीन बाणों से शत्रु पक्षीय हाथी, घोड़ा आदि वाहनों को बेध दिया।

अब तो सर्वत्र प्रद्युम्नजी की वीरता की प्रशंसा होने लगी। यादव वीर सिंहनाद करके वासुदेव नन्दन की जय बोलने लगे और शत्रुपक्ष के वीर भी मन ही मन कहने लगे—"हाँ यह कोई भारी शूरवीर है।"

शाल्व का विमान उस स्थान से उडकर अदृश्य हो गया। प्रद्युम्नजी उसे देखते रहे, कहीं दिखायी नहीं दिया। सहसा उन्हें दूर से दिखायी दिया, तुरन्त वे अपने साथी यादव वीरों को लेकर वहाँ गये, वहाँ जाकर उन्होंने असंख्यों बाण उसके ऊपर छोडे। वे सब बाण सूर्य के समान चमकीले थे, अग्नि के समान जल रहे थे, सर्पों के समान विषमुख वाले थे और इन्द्र के वज्र के समान अमोघ थे। वे गरुड के समान वेग से जाने वाले थे।

प्रद्युम्नजी से प्रथम शाल्व का महामन्त्री द्युमान् लडा था। वह बडा ही बली और समर विजयी था, किन्तु प्रद्युम्नजी ने बाण मारकर उसे परम दुखित कर दिया, इसलिये वह युद्ध छोडकर भाग गया। तब प्रद्युम्नजी ने उसे छोड दिया और वे शाल्व पर प्रहार करने लगे। यद्यपि शाल्व आकाशचारी विमान में था और प्रद्युम्नजी पृथ्वी पर चलने वाले रथ में थे, फिर भी पृथ्वी पर से ही उन्होंने ऐसी बाण की वर्षा की कि शाल्व मूर्छित हो गया।

शाल्व के मूर्छित हो जाने पर, तुरन्त चेत होने पर, प्रधानमन्त्री द्युमान् प्रद्युम्नजी के सम्मुख आया। यादव वीर दृढ प्रतिज्ञ होकर रण में डटे हुए थे। वे युद्ध से हटने का नाम नहीं लेते थे। उन्होंने दृढ निश्चय कर लिया था, कि या तो शत्रु को परास्त करके यश प्राप्त करेंगे, या युद्ध में शत्रु के सम्मुख शस्त्रों से प्राण त्यागकर स्वर्ग ही जायँगे। इसीलिये किसी ने समर से पीछे पग हटाने का मन से भी विचार नहीं किया। द्युमान् ने सहसा आकर वज्रलोह निर्मित एक बडी भारी भयकर गदा को प्रद्युम्नजी की छाती में मारा। और मारकर सिंह के समान उसने गर्जना की, उसके लगते ही उनका वक्षस्थल विदीर्ण हो गया, वे सज्ञाशून्य होकर रथ में गिर पडे, उनके गिरते ही उनके बुद्धिमान् सारथी ने रथ तुरन्त ही बडे कौशल से हटा लिया। वह शत्रु सेना को

चीरता हुआ बाहर निकल गया। प्रद्युम्नजी को रण से भागते देखकर शत्रु सेना के लोग परम हर्षित हुये। यादव वीर शोक में मग्न होकर हाय हाय करने लगे।

रणाङ्गण से दूर जाने पर प्रद्युम्नजी को शीतल वायु लगी। उसके लगते ही उनकी मूर्छा भंग हुई। उन्होंने अपने को समर-भूमि से बाहर एकान्त में पाया। पहिले तो वे समझ ही न सके कि मैं कैसे आ गया। कुछ देर इधर-उधर देखकर वे सब रहस्य को समझ गये। उन्होंने अपने सारथी को डाँटते हुए कहा—"सूत! तुमने यह क्या किया? मुझे तुम रणाङ्गण से बाहर क्यों ले आये?"

हाथ जोड़कर विनीत भाव से सारथी ने कहा—"प्रभो! आप मूर्छित हो गये थे।"

घुड़क कर प्रद्युम्नजी ने कहा—"मूर्छित हो गये थे, तो क्या हुआ, रण में तो यह होता ही है। कोई किसी पर प्रहार करता है, कोई मूर्छित हो जाता है। शूरवीर पुरुष मूर्छा से घबराते नहीं। जो घबरा कर प्राणों के भय से रण छोड़कर भागता है, वह कायर कहलाता है। यद्यपि मैंने कभी युद्ध में कायरता नहीं की, किन्तु कायरस्वभाव के सारथी के कारण आज मेरी भी गणना कायरों में हो गयी, रण से पीछे हट जाना यह हम क्षत्रियों के लिये अत्यंत ही कलङ्क की बात है। यह अपमान तो मृत्यु से भी बढ़कर है। अब मैं किसी को मुख दिखाने योग्य भी न रहा। मेरे पिता आकर जब मुझसे पूछेंगे, तू युद्ध से क्यों भाग आया?' तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा। मेरे ताऊ बलदेवजी जब अपमान के स्वर में कहेंगे, कि तुमने क्षत्रियधर्म का उल्लङ्घन किस कारण से किया, तो मेरे पास इसका कोई उत्तर ही नहीं। मेरे [illegible] बन्धु बान्धव अब मेरे इस अपमान जनक निन्दित [illegible] परस्पर में चर्चा करेंगे, तो मुझे मरण के समान [illegible]

संभावित की अपकीर्ति होनी मरण से भी अधिक क्लेशकर बताई जाती है। यदुकुल में उत्पन्न कोई भी वीर रणभूमि से हटता हुआ नहीं सुना गया। जब मेरी भाभियाँ हँसी-हँसी में कहेंगी—"कहिये शूरवीर देवर! युद्ध में विपक्षी वीरों ने किस कारण आपको कायर बना दिया?" तब मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा। तू मेरा मित्र रूप में शत्रु है। प्रतीत होता है, या तो तू युद्ध विद्या से अनभिज्ञ है या शत्रुओं ने तुझे लोभ लालच देकर अपनी ओर मिला लिया है।"

यह सुनकर विनय के साथ सारथी ने कहा—"आयुष्मन्! आप मेरे ऊपर व्यर्थ सन्देह न करें। न तो मैं शत्रुओं से मिला ही हुआ हूँ और न युद्धधर्म से अनभिज्ञ ही हूँ, मैं आपके पूज्य पिता के सारथी दारुक का पुत्र हूँ। मैं बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में आपके साथ रहा हूँ, मुझे रथी और सारथी के कर्तव्यों का भली-भाँति ज्ञान है। सारथी का धर्म है, कि जब रथी को बड़े भारी संकट में घिरा देखे, तो जैसे भी बने तैसे अपने स्वामी की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार रथी का भी कर्तव्य है, कि अपने सारथी की सब प्रकार से रक्षा करे। इस धर्म को जानते हुए ही मैंने ऐसा किया। जब आप शत्रु की गदा से अचेत हो गये थे, तब मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आपको पुनः चेत हुआ। अब आप जैसी भी आज्ञा देंगे वैसा ही किया जायगा।"

यह सुनकर प्रद्युम्नजी को कुछ सान्त्वना हुई। उनका कवच यम के प्रहार से छिन्न-भिन्न हो गया था। अतः उन्होंने दूसरा कवच धारण किया। हाथ मुख धोकर, आचमन किया और फिर सारथी से बोले—"तू अभी तुरन्त मुझे शाल्व के सचिव वीरवर-द्युमान के समीप ले चल। मैं उसे इसका फल चखाऊँगा।"

सारथी ने कहा—"जो आज्ञा, मैं अभी चलता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह सुनकर सारथी पुनः प्रद्युम्नजी को उस द्युमान् के पास ले गया, जो निर्भय होकर यादवों से युद्ध कर रहा था। अब जैसे उन दोनों में युद्ध होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

लै रथ रन तैं भग्यो चेत हरिसुत कूँ आयो।
युद्ध पलायन निरखि सारथी अति धमकायो॥
करिकें पुनि पयपान कवच बदल्यो रन आये।
गरजन भीषन करी शत्रु सैनिक घबराये॥
मंत्री शाल्व द्युमान् वध, करयो फेरि आगे बढे।
करहिँ बान बरसा असुर, वायुयान पै सब चढ़े॥

—※—

यादवों का शाल्व से भयङ्कर युद्ध

(११५८)

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ ❀
(श्रीमा० १० स्क० ७७ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

सत्ताइस दिन भयो युद्ध नहिँ यादव हारे।
हय, गज, पैदल, रथी सौभपति के बहु मारे॥
भगे न खल छल करै शस्त्र नभ तैं बरसावै।
वन, उपवन, आराम, सभा घर तोरि गिरावै॥
पुरी सकल ऊजर करी, पुरवासिनि अति दुख दियो।
इन्द्रप्रस्थ तैं आइ इत, श्याम परम विस्मय कियो॥

कोई चाहे कितना भी निर्बल क्यों न हो, यदि उसकी मृत्यु नहीं, तो बली से बली भी उसे नहीं मार सकता। इसके विपरीत यदि कोई बली भी है और उसकी मृत्यु की घड़ी आ गयी है, तो उसे सर्व साधारण मनुष्य भी मार सकता है, जिसके हाथों उस की मृत्यु बदी है। असुरों के बलदाता भी भगवान् वासुदेव ही हैं और सुरों को निर्बल बनाने वाले भी वे ही हैं, जब जैसा समय आता है, तब तैसे लोगों को वे बली अथवा निर्बल बना देते हैं।

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! इस प्रकार यादवों का शाल्व की सेना के साथ परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करते हुए, सत्ताईस दिनों तक घोर घमासान युद्ध हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रद्युम्नजी ने अपने सारथी को युद्ध से चले आने पर बहुत डाँटा डपटा। स्वस्थ होकर उन्होंने पुनः सारथी को युद्ध भूमि में चलने की आज्ञा दी। वासुदेव-नन्दन प्रद्युम्नजी की आज्ञा पाकर सारथी पुनः रणाङ्गण की ओर बढ़ा, उसने घोड़ों की रासों को बड़ी सावधानी से पकड़ा। तोत्र के छुआते ही घोड़े वायुवेग के समान दौड़े। दर्शकों को दूर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रद्युम्नजी का रथ आकाश में उड़ रहा है। सारथी अपने अश्वपरिचालन की कला का प्रदर्शन कर रहा था। कभी घोड़ों को दायीं ओर ले जाता, कभी बायीं ओर, कभी चलाते-चलाते चक्कर काटने लगता, कभी पीछे हट जाता। इस प्रकार शत्रु सेना को चीरता हुआ वह शाल्व के मन्त्री द्युमान् के समीप पहुँचा। उसके रथ के समीप जाकर उसने प्रद्युम्नजी के रथ को खड़ा कर दिया। उस समय [illegible] श्रेष्ठ महामन्त्री द्युमान् यादव सेना का निर्दयता के साथ [illegible] कर रहा था। अपनी सेना का [illegible] प्रद्युम्न को बड़ा क्रोध आया। [illegible] कहा—"अरे, नीच! तू [illegible] क्यों कर रहा है। तुम्हें [illegible] कर।"

छोड़कर उसके सिर को भी धड से पृथक् कर दिया। द्युमान् के मरते ही शत्रु सेना मे खलबली मच गयी। बहुत से भय के कारण ही मर गये। इस प्रकार शत्रु सेना में तो हाहाकार मच गया और यादवो की सेना मे आनन्द छा गया।

इधर प्रद्युम्न जी तो द्युमान् से युद्ध कर रहे थे, उधर गद, सात्यकि और शाम्ब आदि यादव वीर शाल्व की सेना का संहार कर रहे थे। वे शाल्व के सौभ विमान पर बाणों की वर्षा कर रहे थे। उनके अमोघ बाणों से शाल्व पक्षीय असुर सैनिकों के सिर कट-कटकर उसी प्रकार गिर रहे थे, जिस प्रकार नारियल के वृक्ष से टूट-टूटकर फल गिर रहे हो। अथवा आँधी में बेल तथा कैथा के वृक्षों से पके फल झर रहे हो। सैनिकों के कटे सिरों से समुद्र भर गया। वे कछुओं की भाँति समुद्र के जल पर तैरने लगे। दोनो ही ओर युद्ध की पूरी तैयारियाँ थीं। कोई हटने का नाम भी नहीं लेता था। द्युमान् को मारकर प्रद्युम्न जी भी शाल्व से लड़ने लगे। उन्होंने एक अमोघ बाण धनुष पर चढ़ाया, जो किसी भी प्रकार व्यर्थ होने वाला नहीं था। उस समय आकाश वाणी हुई—"हे वासुदेवनन्दन! तुम इस अमोघ बाण को मत चलाओ। यह बाण भी अमोघ है, जिसके उद्देश्य से यह छोड़ा जाता है, उसे मारे बिना यह लौटता भी नहीं और इसकी मृत्यु भी आपके हाथ नहीं है। यह तो श्रीकृष्ण भगवान् के हाथ से मरेगा। अतः आप ऐसा साहस न करें। यह सुनकर प्रद्युम्न जी ने उस बाण को नहीं छोड़ा। शाल्व तुरन्त अपने सौभ विमान मे चढ़कर समुद्र के पार चला गया।

इधर इन्द्रप्रस्थ से विदा होकर बलदेव जी के सहित भगवान् द्वारकापुरी में आये। आकर उन्होंने जो देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पुरी की समस्त शोभा नष्ट हो गयी है। वहाँ के वन, उपवन उजड गये हैं। घर, गोपुर, द्वार टूटे

फूटे पडे हैं। स्थान स्थान पर मृतक पुरुष सड रहे हैं, सैनिकों के पहरे लगे हैं, नगरवासी भयभीत से प्रतीत होते हैं। उन्होंने कृत वमा से पूछा—"यह क्या बात है, यह हमारा द्वारकापुरी ही है या हम भूलकर किसी दूसरी पुरी में आ गये हैं। यह इतनी श्रीहीन सी क्यों हो गयी है ? किस शत्रु ने इस पर चढाई की है ?"

सर्वज्ञ भगवान् के इन प्रश्नों को सुनकर कृतवर्मा ने आदि से अन्त तक शाल्व की चढाई का वृत्तान्त बता दिया और यह भी बता दिया, कि वह अभी गया नहीं है। यहा सेना का पडाव डाले पडा है।

यह सुनकर भगवान् को शाल्व पर क्रोध आया। उसी समय उन्होंने शाल्व को मारने का निश्चय किया। अपने बडे भाई बल देवजी से उन्होंने कहा—"आर्य ! शाल्व ने हमारा यह बडा भारी अपमान किया है, अब मैं उसे जीवित न छोडूँगा। उसे मारूँगा और उसके मयनिर्मित सौभ विमान को भी तोड फाड कर छिन्न भिन्न कर दूँगा। आप चलकर नगर की रक्षा करें। भयभीत नगरवासियों को धैर्य बँधाये, मैं तो तब तक नगरी मे प्रवेश न करूँगा, जब तक शाल्व को मार न डालूँ, तथा उसके सौभ विमान के खड खड न कर डालूँ।

बलराम जी ने कहा—"अच्छी बात है, तुम जाकर उस दुष्ट शाल्व को मार आओ, मैं तब तक चलकर नगरी की देख रेख करता हूँ।" यह कहकर बलदेव जी नगरी मे चले गये। उन्हे आये देखकर सबको सन्तोष हुआ।"

इधर श्यामसुन्दर ने अपने सारथी दारुक से कहा—"दारुक ! देखो, समुद्र पार वह दुष्ट शाल्व का सौभ विमान दिखाई देता है, तुम मेरे रथ को उसी के समीप ले चलो। यह सौभराज बडा मायावी है, अत्यन्त खल प्रकृति का है। रुक्मिणी विवाह के समय यह भी कुन्डिनपुर पहुँचा था और सब राजाओं की भाँति यह

मुँह की खाकर यहाँ से लौटा था, तभी से यह हमसे द्वेष मानता है। अब तो इसके परम मित्र लँगोटिया यार जरासन्ध और शिशुपाल मेरे द्वारा मारे गये। इससे इसने कुपित होकर मेरे परोक्ष मे द्वारकापुरी पर चढ़ाई कर दी है। इसे अपने सौभविमान का बड़ा अभिमान है, आज मैं इसके अभिमान को चूर्ण कर दूँगा। इसके विमान को तोड़ दूँगा और इसे भी परलोक पठा दूँगा।"

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर दारुक ने तुरन्त गरुड़ की विशाल ध्वजा वाले भगवान् के रथ को सौभपति की सेना की ओर बढ़ाया। दूर से ही यादव वीरों ने भगवान् के रथ की विशाल गरुड़ की ध्वजा देखी, तो वे सब के सब प्रेम में भरकर कोलाहल करने लगे, शाल्व के सैनिकों ने भी पीताम्बर ओढ़े श्यामसुन्दर को चार शुभ्रवर्ण के घोड़ो वाले विशाल रथ मे अपनी ही ओर आते देखा। भगवान् के रथ की घड़घड़ाहट को ही सुनकर सब के छक्के छूट गये।

भगवान् को अपनी ओर आते देखकर शाल्व भी सम्हला। यद्यपि उसके प्रायः सभी सेनानायक नष्ट हो गये थे, फिर भी उसका युद्ध करने का साहस कम नहीं हुआ था। भगवान् के रथ को देखते ही उसने दारुक को लक्ष्य करके एक बड़ी भयकर जाज्वल्यमान शक्ति छोड़ी। भगवान ने देखा यह शक्ति तो आकाश मण्डल में विद्युत के समान चमक रही है। यदि यह अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर आकर लगी, तब तो सारथी का अन्त ही कर देगी, यही सोचकर भगवान ने बीच में ही बाणों के द्वारा उसके सहस्रों टुकड़े कर दिये। वह व्यर्थ बन गयी। इस पर शाल्व को बड़ा क्रोध आया, भगवान शक्ति को व्यर्थ करके ही शान्त नहीं हुए, अपितु उन्होने सोलह बाणों से शाल्व को भी बेध दिया। आकाश में विमान पर स्थित सोलह बाणों से बिंधा शाल्व ऐसा

प्रतीत होता था, मानो सोलह किरणों से व्याप्त सूर्यनारायण अपने रथ मे बैठे हों। शाल्व को वेधकर तथा बहुत से बाणों से उसके सौभविमान को वेधकर, भगवान् ने रणभूमि मे गर्जना की, इससे शत्रु पक्ष के सभी लोग भयभीत हुए।

शाल्व ने भी समझा मेरी मृत्यु निकट ही है। मेरे जीवन का दीप बुझना ही चाहता है, अतः उसने सम्पूर्ण शक्ति बटोरकर भगवान् के ऊपर बाणों की वर्षा की। एक चोखा बाण भगवान् के बायें श्रीहस्त मे ऐसा लगा, कि उनके हाथ से दिव्य शार्ङ्ग धनुष छूटकर गिर गया। यह बडे आश्चर्य की बात थी। ऐसा पहिले कभी नहीं हुआ था। आकाश मे स्थित देवगण तथा रणाङ्गण मे समुपस्थित समस्त यादव पक्षीय वीर हाहाकार करने लगे। वे समझ ही न सके, भगवान् क्या लीला कर रहे हैं। वे परम विस्मित से बने शाल्व को निहार रहे थे।

तब शाल्व ने गर्व के साथ कहा—"कृष्ण ! तू बडा कपटी है। तैंने कुण्डिनपुर मे हम सब के देखते-देखते हमारे बन्धुरूप मित्र शिशुपाल की भावीपत्नी रुक्मिणी का छल से हरण किया था।"

भगवान् ने कहा—"बन्धूजी ! छल से हरण नहीं किया था, किन्तु बल से किया था। तुम सब तो वहाँ सदल बल समुपस्थित थे। तुम सबने मुझे पकडा क्यों नहीं ?"

शाल्व बोला—"चोर सदा थोडे ही पकडा जाता है। एक दो बार जब वह अपने कार्य मे सफल हो जाता है, तो फिर उसे अभिमान हो जाता है, कि मैं बडा बुद्धिमान हूँ। मुझे कोई पकड नहीं सकता। मैं सबको ठग लूँगा, इसी प्रकार तुझे भी अभिमान हो गया है, कि मैं अजेय हूँ। इसीलिये तैंने हमारे सखा शिशुपाल का भरी सभा में छल से असावधानावस्था मे वध कर दिया। अब मैं उसे चूर-चूर कर दूँगा। यदि तू रण से भाग न गया और इसी प्रकार वीर क्षत्रियों की भाँति डटा रहा, तो आज तुझे तेरी

करनी का फल चखा दूँगा। आज मैं अपने चोखे बाणों से तुझे उस पुर में पहुँचा दूँगा, जिसमें जाने पर फिर कोई उसी शरीर से लौटकर नहीं आता।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"देख, जिसकी मृत्यु निकट होती है, वह वायु विकार से ऐसे ही व्यर्थ की बातें बका करता है। उसी प्रकार तू बक रहा है। इससे प्रतीत हो रहा है, अब तेरा अन्त समय निकट आ गया है। तेरे सिर पर काल मँडरा रहा है। बातें बनाना यह वीरता का काम थोड़े ही है। शूर वीर बड़बड़ाते नहीं हैं, वे करके दिखाते हैं। यदि तुझमें कुछ वीरता है, तो मेरे सम्मुख डटा रह, कुछ ही समय में प्रतीत हो जायगा, कौन बली है कौन निर्बल।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर शाल्व क्रोध में भर गया। भगवान् ने उसके ऊपर प्रहार किया। उसने भी भगवान् पर प्रहार किया। इस प्रकार दोनों ही ओर से भयंकर युद्ध होने लगा। अब दोनों के युद्ध का क्या परिणाम होगा, शाल्व कैसे मारा जायगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

क्षत विक्षत निज पुरी निहारी कहैं मुरारी।
आइ सौभपति अधम द्वारका सकल उजारी॥
बल पुररक्षा हेतु भेजि रिपु सम्मुख आये।
उभय परस्पर भिड़े क्रोधयुत वचन सुनाये॥
बाननि की बरसा करी, शत्रु मान मरदन कर्यो।
रिपु मारे शर श्याम कर, सारङ्ग धनु करतैं गिर्यो॥

——

शाल्व वध

(११५९)

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलम्,
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो–
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ७७ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

सुर मुनि हाहाकार करें रिपु भये सुखारे ।
शाल्व बढ्यो अभिमान गरवयुत वचन उचारे ॥
कृष्ण मारिकें तोइ मित्र ऋण आजु चुकाऊँ ।
हँसि बोले भगवान तोइ यमसदन पठाऊँ ॥
मायापति सँग सौभपति, विविधि भाँति माया करत ।
माया तैं वसुदेव रचि, काट्यो तिनको सिर तुरत ॥

भगवान् जब जैसा रूप रख लेते हैं, तब वैसी ही क्रीड़ा करने लगते हैं । वे सर्वज्ञ हैं, सर्वस्वतन्त्र हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने चक्र सुदर्शन से ही, महामायावी शाल्व के किरीट कुण्डल मण्डित मस्तक को उसी प्रकार काट डाला, जिस प्रकार पूर्वकाल में देवेन्द्र ने अपने वज्र द्वारा वृत्रासुर का सिर काटा था । यह देखकर शाल्व पक्ष में हाहाकार करने लगे ।"

इसलिये वे जो भी लीला करते हैं, वही सुन्दर प्रतीत होने लगती है। उसी में उनकी ईश्वरता व्यक्त हो जाती है। मोहरहित होने पर भी वे मोह में फँसे से दीखते हैं। माया के पति होने पर भी वे मायामोहित से प्रतीत होने लगते हैं, उनकी लीला विचित्र है। वे जो भी करते हैं, वही सत्य है, वह शिव है, वही सुन्दर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सौभपति युद्ध कर रहा था। वह अपने विमान में बैठा आकाश में उड़ रहा था, श्यामसुन्दर अपने गरुड़ की ध्वजा वाले रथ पर चढ़कर, पृथ्वी पर से युद्ध कर रहे थे। भगवान् ने नीचे से ही एक शक्ति उसके कंधों पर मारी। उस शक्ति से लगते ही उसकी समस्त नसें ढीली हो गयीं। मुँह से रक्त बहने लगा और वह थर-थर काँपने लगा। उसने समझ लिया मैं साधारण युद्ध में श्रीकृष्ण से जीत न सकूँगा। इसे माया से जीतना चाहिये।"

भगवान् की गदा तो उसे आहत करके लौट गयी और वह तुरन्त वहाँ का वहीं अन्तर्धान हो गया। अब वह विचित्र माया रचने लगा। उसने अपनी माया से एक ऐसा पुरुष बनाया, जो वसुदेवजी के अन्तरङ्ग सेवक के सदृश था। उसने रणभूमि में खड़े भगवान् वासुदेव को शिर से प्रणाम करके रोते-रोते कहा—"प्रभो! मुझे भगवती देवकी ने एक अत्यन्त ही आवश्यक दुःखमय समाचार लेकर आपके समीप भेजा है।" यह कहकर वह फूट-फूट कर रोने लगा।

भगवान् ने कहा—"भाई, बताओ तो सही, बात क्या है, तुम इतने रो क्यों रहे हो? माताजी ने मेरे लिये क्या संदेश भेजा है? तुम मुझे शीघ्र ही बताओ?"

उस माया निर्मित मानुप ने कहा—"हे महाबाहो! हे पितृवत्सल! बात कहने योग्य हो, तो कहूँ भी, समाचार अत्यंत ही दुःख पूर्ण है। आपके पूजनीय पिताजी को यह दुष्ट शाल्व उसी प्रकार

निर्दयता पूर्वक पकडकर बाँध ले गया है, जिस प्रकार पशुओं का वध करने वाला वधिक पशुओं को बाँध कर ले जाता है।"

इस कर्णकटु दुस्द समाचार को सुनते ही भगवान् प्राकृत पुरुषों की सी लीला करने लगे। वे अत्यत ही शोकाकुल से बन गये। वे साधारण मनुष्यों के समान स्नेह पूर्वक अपने आप ही कहने लगे—"देखो, भवितव्यता कैसी प्रवल है। अपने बडे भाई बलदेव जी को मैंने इसीलिये प्रथम पुरी मे भेज दिया था, कि वे वहाँ रह कर पुरी की रक्षा करें, सबकी देख भाल करें। मैं यहाँ शत्रु से लडूँगा। मेरे बडे भाई को सुर, असुर, गन्धर्व तथा अन्यान्य देव उपदेव भी नहीं जीत सकते, फिर मनुष्यो की तो बात ही क्या? ऐसे मेरे अजेय भाई को जीतकर शाल्व मेरे पिता को कैसे पकड लाया। क्योकि उनके रहते तो किसी का ऐसा साहस हो नहीं सकता। मेरे भाई प्रमादी भी नहीं हैं, वे सदा सावधान रहते हैं, उन्हे इस अल्पवीर्य शाल्व ने कैसे जीत लिया। कैसे पिताजी को पकड ले गया?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् इस प्रकार विलाप कर ही रहे थे, कि इतने में ही शाल्व ने माया से एक वसुदेवजी के सदृश पुरुष बनाया और उसे बाँधे हुए आकाश मे श्यामसुन्दर के सम्मुख पुन प्रकट हो गया और कहने लगा—'हे बालिश! देख तू इन्हे जानता है? ये तेरे पिता वसुदेव हैं। हमने सुना है, तू बडा पितृ वत्सल है। तेरा जीवन पिता के ही हेतु है। मैं इसे तेरी पुरी से बलात् पकड लाया हूँ, इस तेरे बाप को मैं तेरे सम्मुख ही मारूँगा। तुझ मे शक्ति हो, सामर्थ्य हो, वल हो, वीर्य हो, पुरुषार्थ तथा साहस हो तो तू अपने पिता को मरने से बचा ले।"

ऐसा कहकर उस मायावी ने माया निर्मित वसुदेव जी का सिर अपने खड्ग से धड से पृथक कर दिया। सिर काटकर वह

कटे सिर और धड को लेकर अपने विमान पर हँसता हुआ बैठ गया।

सर्वज्ञ स्वयसिद्ध ज्ञानस्वरूप मायापति भगवान् नर नाटय करने लगे। अपने पिता के वध को देखकर वे दो घडी के लिये शोक सागर मे मग्न हो गये। वे प्राकृत पुरुषो के सदृश विलाप करने लगे। कुछ देर में भगवान् स्वस्थ हुए और फिर सब रहस्य समझ गये। उन्होने जान लिया, यह सब शाल्व निर्मित माया ही है। माया बहुत समय तक टिकती नहीं। माया निर्मित वस्तु अल्पकाल मे ही लुप्त हो जाता है। भगवान् ने देखा कि न तो वहाँ दूत है, न पिता जी का कटा शरीर है, जागने पर जैसे स्वप्न की समस्त वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं, वैसे ही वहाँ की वे वस्तुएँ विलीन हो गयीं। अब तो उन्हे शाल्व के ऊपर बडा क्रोध आया, उन्होंने उसे मारने का निश्चय कर लिया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! शोक, मोह, राग तथा भय आदि तो माया बद्ध जीवों को हुआ करते हैं। ज्ञान वैराग्य से परिपूर्ण अखण्ड ऐश्वर्य वाले श्रीकृष्णचन्द्र मे ये सब भाव कैसे हो सकते हैं। भगवान् मायिक पदार्थो को देखकर माया मोहित कैसे हो सकते हैं, वे दो घडी के ही लिये सही साधारण पुरुषो के समान शोक सागर मे कैसे निमग्न हो सकते हैं? जिन भगवान् की चरण सेवा के द्वारा आत्मविद्या प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मुनिगण अनादि अविद्या जनित विपरीत ज्ञान का सर्वदा के लिये नाश करके, अखण्ड ऐश्वर्य और अनन्त आत्म वैभव को प्राप्त करते हैं, उन शरणागत प्रतिपालक भक्त वत्सल, सज्जन पुरुषों के एकमात्र गति, परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि को मोह कैसे हो सकता है। यह तो असम्भव बात है। ये तो परस्पर विरुद्ध बातें हैं। अथवा तो माया जनित है। भगवान्

तो माया के पति हैं, वे शाल्व की माया निर्मित वस्तुओं को प्रथम ही क्यों नहीं जान गये ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! कुछ मुनियों का ऐसा ही मत है, कि भगवान् को उस समय मोह हो गया। किन्तु हम इस बात को नहीं मानते। भगवान् तो माया मोह से रहित हैं। फिर भी माया में सब कुछ सम्भव है। जैसे बाना पहिने वैसा ही आचरण करे। भगवान् सब जानते हुए भी नर लीला दिखा रहे हैं। जब मनुष्य का रूप बनाया है, तो मनुष्यों में होने वाली सब दुर्बलता भी वे लीला के लिये प्रकट करते हैं। जरासन्ध उनका क्या बिगाड सकता था, किन्तु नर लीला दिखाने को अपनी पैतृक राजधानी त्यागकर समुद्र के बीच म आ बसे और रणछोड के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसलिये आप इस विषय मे किसी प्रकार की शका न करें।"

शोनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन सत्य ही है, भगवान् जो करें वही सत्य है, वही कमनीया क्रीडा है, अच्छा तो आगे क्या हुआ, आगे की कथा कृपा कर सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ, अच्छी बात है महाराज ! अब मे आप को आगे की ही कथा सुनाता हूँ। भगवान् को सम्मुख देखकर बडे वेग से शाल्व उन पर झपटा। वह निरन्तर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा कर रहा था भगवान् ने अपनी कौमोदिकी गदा से शत्रु को रोंदा। भगवान् की गदा लगते ही उसका दृढ कवच टूट गया। हाथ से धनुष टूटकर छूट गया। भगवान् ने उछल कर साभ विमान पर भी प्रहार किया। भगवान् का गदा प्रहार से वह मायासुर का बनाया विमान टूट फूट गया। उसके सहस्रों टुकड़े हो गये और वह चकनाचूर होकर समुद्र मे गिरसा गया।

विमान के टूटते ही शाल्व उसमे से तुरन्त कूद पडा अत्यन्त क्रोध म भरा हुआ, भगवान् की ओर गदा ले..

भगवान् तो पहिले से ही सचेष्ट थे, अपनी ओर आते हुए उस अत्याचारी को देखकर उन्होंने एक अर्धचन्द्राकार बाण छोड़कर उसकी गदा युक्त बाहु को काट दिया। हाथ कट जाने से वह

तनिक भी विचलित नहीं हुआ। वह और भी क्रोध के साथ भगवान् की ओर चला। तब श्रीहरि ने अपने सुदर्शन चक्र को

उठाया। वह प्रलय कालीन सूर्य के समान दिखायी दे रहे थे। उनकी सहस्रों किरणें चमक रही थीं, सहस्रों सूर्यों के सदृश उनका प्रकाश था। भगवान् वासुदेव ने उसी दिव्य चक्र के द्वारा महा-मायावी शाल्व के किरीट कुण्डल मण्डित मस्तक को धड से पृथक् कर दिया। शाल्व का सिर कटते ही शत्रु सेना में हाहाकार मच गया। सैनिकों का साहस छूट गया। वे रण भूमि को छोडकर भगने लगे।

इधर यादवों की सेना मे आनन्द का सागर उमडने लगा। आकाश से सुरगण स्वर्गीय सुमनों की वर्षा करने लगे। उस शाल्व से और उसके सौभ विमान से सभी दुखी थे। अतः शाल्व के मारे जाने पर, तथा विमान के चूर-चूर हो जाने पर सभी को परम हर्ष हुआ। बात की बात मे यह समाचार सर्वत्र फैल गया। भगवद्भक्तों को सुरद्रोही शाल्व के मारे जाने पर प्रसन्नता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब शाल्व के मारे जाने पर उसका मित्र दन्तवक्त्र जैसे कुपित होकर द्वारका आया और भगवान् ने जैसे उसका वध किया, इस कथा प्रसग को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

नरलीला कछु करी फेरि माया सब जानी।
सौभ करन विध्वंस गदा श्रीहरि ने तानी॥
मारी गिरयो विमान टूटिकें चूर भयो सब।
लखि हरि सम्मुख शाल्व चक्रतें सिर काटयो जब॥
हाय हाय अरि दल मची, भये मुदित यादव अमर।
जय जय सुर नर मुनि कहहिं, सुघर श्याम जीत्यो समर॥

दन्तवक्र और विदूरथ वध

[११६०]

नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः।
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ७७ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

शाल्व और शिशुपाल मरन सब जग महँ छायो।
बदलो लैवे दन्तवक्र द्वारावति आयो॥
रनके बाजे बजे उभय दल चले हरषि पुनि।
मामा फूफी बन्धु लडैं लखि बिहँसत ऋषि मुनि॥
गदा श्याम शिर मारि खल, हँस्यो न हरि विचलित भये।
तानि गदा कौमोदकी, कृष्ण असुर के ढिंग गये॥

यह संसार आशा पर ही टिका हुआ है। जब तक सासा तब तक आशा, यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है। वैद्य, चिकित्सक जानते हैं, यह रोग असाध्य है, फिर भी इसी आशा से चिकित्सा करते हैं, सम्भव है बच जाय। व्यापार में, जूए में बार बार हार

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शाल्व के मरने पर आकाश में देवताओं की दुन्दुभियों का शब्द होने लगा। इसी समय दन्तवक्त्र अपने सखा शिशुपाल तथा शाल्व आदि का बदला लेने के निमित्त अत्यन्त कुपित होकर द्वारका की ओर चला।"

होती है, फिर भी उसमें इसी आशा से चिपटे रहते हैं, सम्भव है अन्त के लाभ हो जाय। सैनिक देखते हैं,अमुक वीर के सम्मुख जो जाता है, वही हार जाता है, फिर भी दूसरे इस आशा से उससे लड़ने जाते हैं, कि मैं जीत ही लूँगा। यदि मनुष्य को आशा न रहे, तो वह किसी भी काम में प्रवृत्त न हो। प्रवृत्ति का मूल कारण आशा है, इसीलिये वैराग्यवान पुरुष आशा को ही परम दुःख और नराश्य को ही परमसुख बताते हैं। जीव जानते हैं, विषयों के भोग से कोई सुखी नहीं हुआ है, फिर भी वह विषयों में इस आशा से प्रवृत्त होता है, कि किसी को चाहे सुख न मिला हो मुझे तो सुख मिल ही जायगा। असुर प्रकृति के लोग जानते हैं,कि भगवान् ने हिरण्यकशिपु,हिरण्याक्ष, रावण तथा कुम्भकरण जैसे विश्वविजयी वीरों को मार दिया है, इनसे आज तक किसी ने विजय प्राप्त नहीं की। फिर भी असुर नहीं मानते उनसे लड़ने को आते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब शाल्व मारा गया और उसका मय निर्मित सौभ विमान भी नष्ट हो गया, तो यादवों को तथा समस्त सुर मुनियों को बड़ा हर्ष हुआ। यह समाचार सर्वत्र फैल गया।

यह मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि भगवान् की पाँच बूआएँ थीं। सबसे बड़ी बूआ कुन्ती के तो पांडव पुत्र थे, जो भगवान् को अपना सर्वस्व समझते थे। श्रुतश्रवा का विवाह चेदिदेश के राजा दमघोष के साथ हुआ जिसके पुत्र शिशुपाल को भगवान् ने धर्मराज की सभा में मार डाला। एक बूआ श्रुतदेवा थी, जिसका विवाह करुप देश के राजा वृद्धशर्मा से हुआ था। उसका पुत्र दन्तवक्र था। सनकादि के शाप से जय विजय को तीन जन्मों में आसुरी योनि का शाप था। दो जन्मों में तो ये सगे भाई हुए, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु तथा रावण कुम्भकर्ण दोनों जन्मों में

दोनों एक माँ के उदर से हुए। अब इस तीसरे जन्म में ये दोनों पृथक-पृथक स्थानों में उत्पन्न हुए। यद्यपि ये सगे भाई नहीं हुए, किन्तु मौसेरे भाई हुए। कहावत है 'चोर-चोर मौसेरे भाई' भगवान् की एक बूआ का पुत्र तो शिशुपाल हुआ, दूसरी बूआ का दन्तवक्र हुआ। अब इस तीसरे जन्म में भगवान् के हाथों मर कर उनको पुनः वैकुण्ठ की प्राप्ति होनी थी। जन्म चाहे कहीं भी क्यों न हो, पूर्वजन्म के संस्कार बने ही रहते हैं। पूर्वजन्म में जिनके साथ शत्रुता मित्रता रहती है, उसका संस्कार दूसरे जन्मों में भी अवशिष्ट रहता है। इसीलिये शिशुपाल और दन्तवक्र में बडा भारी प्रेम था। शिशुपाल का मित्र शाल्व था। मित्र का मित्र होने के नाते दन्तवक्र भी उससे स्नेह रखता था।

जिस समय शिशुपाल का भगवान् ने वध किया, उस समय वहाँ दन्तवक्र उपस्थित नहीं था। जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण ने भरी सभा में मेरे मौसेरे भाई शिशुपाल को मार डाला है, तब तो वह अत्यंत कुपित हुआ। उसने जब सुना कि श्रीकृष्ण अब इन्द्रप्रस्थ से द्वारका चले आये हैं, तो वह भी अपने मित्र तथा भाई का बदला लेने द्वारका की ओर चला। वह जब द्वारका के समीप ही पहुँचा था, कि उसने सुना—"श्रीकृष्ण ने तो शाल्व को भी मार डाला और उसके मयनिर्मित सौभ विमान को भी गदा से चूर-चूर कर डाला।" तब तो उसका क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने सोचा—"यह श्रीकृष्ण बडा छली बली है, इसने मेरे मित्र शिशुपाल को मार डाला। शाल्व, पौंड्रक तथा जरासन्ध आदि जितने हमारे पक्ष के शूरवीर राजा थे, उन सबको इसने असावधानी में छल से परलोक पठा दिया। अब मैं श्रीकृष्ण का वध करके अपने दिवगत मित्रों का प्रिय कार्य करूँगा।" यही सोचकर वह दुर्बुद्धि अत्यंत क्रोध में भरकर हाथ में गदा लेकर द्वारका आया। उसके सचिवों ने मित्रों ने बहुत कुछ कहा, कि आप सेना

सजाकर द्वारका पर चढ़ाई करें, किन्तु उसे तो अपने बल का अत्यधिक अभिमान था, अतः उसने कहा—"सेना सजाकर निर्बल जाते हैं, मैं तो अकेला ही जाकर कृष्ण को मार आऊँगा।" यह कहकर वह अकेला पैदल ही द्वारका की ओर दौड़ा। वह उसी समय भगवान् को दिखाई दिया, जब वे शाल्व को मारकर द्वारकापुरी की ओर रथ में बैठकर जा रहे थे। दूर से ही उसने भगवान् के रथ की विशाल गरुड़ के चिह्न वाली ध्वजा देखी, अतः उसने वहीं से चिल्लाकर कहा—"कृष्ण! अरे, ओ छलिया! खड़ा तो रह, कहाँ भागा जा रहा है।"

भगवान् ने देखा, हाथ में गदा लिये हुए, अपने पैरों से पृथ्वी को कँपाता हुआ, युद्ध की इच्छा से पैदल ही दन्तवक्र उनकी ओर दौड़ा चला आ रहा है। उन्होंने सोचा—"जब शत्रु पैदल है तो मुझे भी उससे पैदल ही युद्ध करना चाहिये। रथ में बैठकर पदाति से युद्ध करना रणनीति के विरुद्ध है।" यही सोचकर भगवान् तुरन्त रथ से कूद पड़े। उनके हाथ में शाल्व के रक्त से सनी कौमोदकी गदा थी। उन्होंने दौड़कर आते हुए दन्तवक्र को रोक लिया, जिस प्रकार सिंह सम्मुख आते हुए गजराज को रोक लेता है, अथवा किनारा जैसे समुद्र के वेग को रोक लेता है। भगवान् ने हँसकर कहा—"कहो, भैयाजी! कहाँ जा रहे हो?"

यह सुनकर दन्तवक्र गदा को तानता हुआ क्रोध में भरकर कहने लगा—"कृष्ण! तू मेरे सगे मामा का लड़का है। सम्बन्धी और मातृपक्ष का होने से तू मेरे लिये अवध्य है, करूँ क्या, तेरा अभिमान आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है। तेरे अपराध सीमा को पार कर गये हैं। तू मेरे भाई शिशुपाल की स्त्री को बल पूर्वक भगा ले गया। मेरे मित्र जरासन्ध को तैंने छल से मरवा डाला। मेरे मौसेरे भाई अपनी फूआ के लड़के शिशुपाल को तैंने भरी सभा में मार डाला। उसके परम मित्र मेरे स्नेही शाल्व को

तैंने अभी-अभी मार दिया। मैं तेरे सम्बंध की बातें बहुत दिनों से सुनता चला आता था, आज बड़े भाग्य की बात है, जो तू मेरे सम्मुख आ गया। अब तू अपने देवी देवताओं को मना ले। तैंने मेरे सब मित्रों को मार डाला है और मुझे भी मारने का प्रयत्न कर रहा है। तैंने बड़े-बड़े अपराध किये हैं। अब मैं तुझे छोड़ नहीं सकता। आज मैं तेरा सब कार्य समाप्त कर दूँगा। तुझे अपनी वज्रसदृश गदा से मार डालूँगा। अब मैं इस बात का संकोच न करूँगा, कि जिस उदर से मेरी माता उत्पन्न हुई है, उसी से तेरा पिता उत्पन्न हुआ है, इससे मैं तेरे ऊपर दया कर दूँ। देख, रोग तो शरीर से उत्पन्न होता है, उसे भी कड़वी कषैली ओषधियों से शांत करते हैं। कोड़े शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, फिर भी उन्हें अनिष्टकारी समझकर मार देते हैं। तू भी हमारे मातृकुलमें रोग है, कलङ्क के सदृश है। हे मतिमन्द! आज तुझे अपनी वज्र तुल्य गदा से मार डालूँगा। तुझे यदि मैं नहीं मारता तो मैं मित्र द्रोही कहलाऊँगा। अतः तुझे मारकर मैं अपने मित्रों के ऋण से उऋण हो जाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर वह महाबलशाली सहसा भगवान् के ऊपर गदा घुमाता हुआ दौड़ा और उसने उन्हें उत्तेजित करते हुए, उनके मस्तक पर गदा जमा ही तो दी। गदा मारकर उसने गर्जना की। यद्यपि भगवान् के मस्तक पर इसने पूरी शक्ति से प्रहार किया था, किन्तु भगवान् उससे इसी प्रकार विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार फूल की छड़ी मार देने से गजराज विचलित नहीं होता। गदा के प्रहार को सहकर वे बोले—"भैयाजी! तुमने तो प्रहार कर लिया, अब मेरा भी सहो।" यह कहकर बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये भगवान् ने उसके वक्षःस्थल में अपनी कौमोदकी गदा से प्रहार किया। भगवान् की गदा लगते ही उसका हृदय फट गया, रक्त की वमन

करता हुआ, कुछ काल तो हुच हुच करता रहा, अन्त में भगवान् की ओर एक टक निहारता हुआ वह प्राणहीन हो गया। उसके हाथ पैर फैल गये, केश बिखर गये और अस्त व्यस्त भाव से धूलि में लोटने लगा। जिस प्रकार शिशुपाल के मरने के समय उसके शरीर से ज्योति निकल कर भगवान् वासुदेव के शरीर में समा गयी थी, उसी प्रकार इस दन्तवक्र के मुख से निकली हुई सूक्ष्म ज्योति सभी लोगों के देखते-देखते अत्यन्त ही विचित्र भाव भगवान् के श्री अङ्गमें समा गयी। इस पर सभी भगवान् की जय जयकार करने लगे। तीनों लोकों में हर्ष छा गया।

जिस समय दन्तवक्र अकेला ही गदा लेकर द्वारका की ओर चला था, उसी समय भ्रातृस्नेह से परिप्लुत उसका भाई विदूरथ भी उसके पीछे पीछे आ रहा था। दन्तवक्र प्रथम पहुँच गया था, जब वह भगवान् की गदा से मर गया, तब यह विदूरथ पहुँचा। अपने भाई की मृत्यु सुनकर तथा भ्रातृशोक से विह्वल होकर विदूरथ भी भगवान् को मारने को दौड़ा। जैसे पतंग अग्नि की लपटों को देखकर दौड़ता है और अन्त में उसी में जलकर भस्म हो जाता है, यही दशा विदूरथ की हुई। वह एक हाथ में ढाल और दूसरी में करवाल लेकर लम्बी-लम्बी श्वासों को छोड़ता हुआ भगवान् के ऊपर झपटा।

भगवान् ने सोचा अब इसके ऊपर गदा क्या चलाई जाय, उन्होंने चक्र सुदर्शन को आज्ञा देदी। चक्र ने उसका किरीट कुण्डल मण्डित मस्तक धड़ से पृथक् कर दिया। अब तो यादवों के हर्ष का ठिकाना ही नहीं रहा। सभी अपनी इस विजय पर अत्यन्त हर्षित हुए।

अब तो कोई आने वाला शत्रु नहीं रहा। शिशुपाल राजसूय सभा में मारा गया, विमान सहित शाल्व यहाँ नष्ट हुआ। दन्तवक्र और विदूरथ बदला लेने के लिये प्रयत्न करने में ही

गये। सब को मारकर शङ्ख बजाकर अब भगवान् द्वारकापुरी की ओर पधारे। पृथ्वी पर सभी लोग उनकी स्तुति कर रहे थे, आकाश से देवतागण पुष्प बरसा रहे थे। पीछे पीछे सूत, मागध, बन्दी, ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, उरग, पितृगण, अप्सरा, यक्ष, किन्नर और चारणादि उनका यशोगान करते जाते थे। भगवान् मन्द-मन्द मुस्कराते हुए तथा विजय गायनों को श्रवण करते हुए, सेवकों से घिरे हुए चले। यादवों ने आज द्वारावती को भली भाँति सजाया था। उस सजी सजाई पुरी में प्रभु ने प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश किया। विजयी भगवान् के दर्शन करके नगर के नर नारी अत्यधिक प्रमुदित हुए। स्त्रियों ने उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा की। कन्याओं ने उनको मालायें पहिनायीं तथा उनके मस्तक पर दधि कुंकुम का टीका लगाया, अक्षत चिपकाये। भगवान् सबका यथोचित स्वागत सम्मान करते हुए महलों में आ गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार योगेश्वरों के भी ईश्वर जगत्पति भगवान् वासुदेव ने अनेकों दिव्यातिदिव्य लीलायें कीं। अज्ञानी लोग उन्हें कहीं हारते देखते, कहीं जीतते। वास्तव में वे न कभी किसी से हारते हैं, न किसी को जीतते हैं। सबके स्वामी तो एकमात्र वे ही हैं। क्रीडा करने के लिये ऐसे रूप बना कर लीला करते हैं। अब जिस प्रकार बलदेवजी कुछ अनमने होकर तीर्थ-यात्रा के लिये गये हैं। उस प्रसंग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

मारी हिय महँ गदा गिरयो मरि अति अभिमानी।
तनतैं निकसी ज्योति श्याम तनु माहिँ समानी॥
तीन जनम जय विजय भये खल हरिने मारे।
शाप मुक्त अब भये तुरत वैकुण्ठ सिधारे॥
दन्तवक्रको बन्धु लघु, आइ विदूरथ रन करयो।
सोऊ हरिके हाथ तैं, समर माहिँ सम्मुख मरयो॥

बलदेवजी की महाभारत युद्ध में तटस्थता

[११६१]

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पांडवैः।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७८ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

विजयी बनि घनश्याम पुरी अपनी महँ आये।
सुन्यो द्यूत महँ धरमराज कौरवनि हराये॥
राजपाट सब हारि बने पाडव वनवासी।
पहुँचे वन महँ तुरत सुनत अच्युत अविनाशी॥
दई सान्त्वना सबनि कूँ, वनको प्रन पूरन भयो।
दुरजोधनने तऊ नहिँ, राज पाडवनि फिरि दयो॥

मनुष्य को उस समय बडा धर्मसंकट पड जाता है, जब लडने वाले दोनों पक्ष के लोग अपने सगे सम्बन्धी हो। एक कोई अन्य हो और एक अपना सगा सम्बन्धी हो, तो यह स्वाभाविक ही है, कि सगे सम्बन्धी का पक्ष लिया जाता है। जब दोनों ही समान रूप से अपने सम्बन्धी हो, तब मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ बन जाता

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कौरव और पाडवों को युद्ध के लिये उद्यत देखकर निरपेक्ष उदासीन रहने के विचार से बलदेवजी तीर्थयात्रा के व्याज से द्वारका से चल दिये।"

है। ऐसे समय कुछ लोग तो ऐसा करते हैं, जिनसे अधिक प्रेम होता है, उनकी ओर हो जाते। दूसरों से शत्रुता कर लेते हैं। कुछ ऐसे होते हैं,कि दोनो मे से किसी का भी पक्ष नहीं लेते,तटस्थ हो जाते हैं। किसी पक्ष का समर्थन न करके वे मौन हो जाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि यह जानते हुए भी कि एक पक्ष अन्याय कर रहा है फिर भी लोभ, मोह, संकोच, अथवा अन्य किसी कारण से अन्यायी पक्ष की ही सहायता करते हैं। मन से चाहे विपक्षियों का ही कल्याण चाहे, किन्तु सहायता इसी पक्ष की करते हैं। कुछ ऐसे न्यायप्रिय निर्भीक पुरुष होते हैं कि वे सम्बन्ध का, प्रेम का, लोभ मोह अथवा शील संकोच की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते। वे तो जिधर धर्म देखते हैं उन्हीं का पक्ष लेते हैं। उन्हीं की सहायता करते हैं। वे न्याय के लिये–धर्म के लिये–सब कुछ कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् शाल्व तथा विदूरथ आदि को मारकर द्वारकापुरी में आये। यहाँ आकर उन्होंने सुना, पांडव द्यूत मे सर्वस्व हारकर वन मे चले गये हैं और वहाँ वन-वासियो का सा जीवन बिता रहे हैं। इस समाचार को सुनते ही भगवान् तुरन्त रथ मे बैठकर पांडवों से मिलने के निमित्त उस काम्यक महावन मे गये जहाँ पांडव रहते थे। भगवान् ने पांडवो की ऐसी दशा पर दुःख प्रकट किया और उन्हे बारह वर्ष धर्म-पूर्वक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास की सम्मति दी। पांडवो ने बारह वर्ष तक वन मे वास किया और एक वर्ष राजा विराट् के यहाँ अज्ञातवास में रहे। कौरव अज्ञातवास के समय पाडवों को बड़ी तत्परता के साथ चारो ओर खुजवा रहे थे, जिससे वे पुनः बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करें। किन्तु पांडव तो इस प्रकार वेष बदलकर रहते थे, कि उन्हे कोई पहिचान ही नहीं सकता था। जब कौरवों ने विराट् की गौओं

का जाकर हरण किया, तब बृहन्नला बने हुए अर्जुन ने विराट् पुत्र उत्तर का सारथ्य किया। कुमार उत्तर कौरवों की इतनी भारी सेना को देखकर डर गया। तब अर्जुन समस्त कौरव पक्षीय वीरों को युद्ध में मूर्छित करके गौओं को छुड़ा लाये। उस समय सबने जान लिया, कि बृहन्नला सव्यसाची अर्जुन ही हैं। उसने कहा—"मैंने एक वर्ष अज्ञातवास के पहिले ही इन्हें पहिचान लिया, इसलिये इन्हें पुनः बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करना चाहिये।" पाडवों का कहना था कि अज्ञातवास में हमें एक वर्ष से अधिक हो गया है। इसी पर बात बढ़ गयी। दुर्योधन ने स्पष्ट कह दिया—"मैं बिना युद्ध के एक सूई की नोंक के बराबर भूमि न दूँगा।" बीच में भगवान ने पड़कर ऊपर से लोक दिखावे को बहुत चाहा, कि कौरव पाडवों में युद्ध न हो। वे धर्मराज के दूत बनकर भी हस्तिनापुर गये। दुर्योधन को बहुत समझाया, किन्तु वह किसी प्रकार नहीं माना। उसने तो यहाँ तक प्रयत्न किया, कि हत्या की जड़ ये श्रीकृष्ण ही हैं,इन्हीं के बल पर पाडव उछल कूद कर रहे हैं। यदि इन्हें पकड़कर कारावास में बन्द कर दिया जाय, तो पाडव ठण्डे पड़ जायँ, फिर वे युद्ध का नाम भी न लें।" किन्तु वह ऐसा कर नहीं सका।

श्रीकृष्ण भगवान् ऊपर से ही दौड़ धूप कर रहे थे। लोक दिखावे के निमित्त ही सधि का उद्योग कर रहे थे। उनकी आन्तरिक इच्छा यही थी,कि युद्ध हो, जिससे पृथ्वी का बढ़ा हुआ भार उतर जाय। यदि वे मन से चाहते तो युद्ध हो ही नहीं सकता था। उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। जब दुर्योधनने सन्धि के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, तब यही निश्चय हुआ, क्षत्रिय धर्म की शरण ली जाय। युद्ध में शत्रुओं को मारकर अपना गया हुआ राज्य लौटाया जाय। इसलिये पाडव युद्ध की तैयारियाँ करने लगे। अपने पक्षके राजाओंको युद्ध के लिये निमत्रण भेज

लगे। इधर दुर्योधन पहिले से ही सावधान था। उसने सभी राजाओं के समीप सेना सहित युद्ध में आने के लिये निमन्त्रण भेजा। भगवान् ने देखा कि युद्ध किसी किसी प्रकार रुक नहीं सकता। तो द्वारका चले गये। नियमानुसार अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णजी को युद्ध के लिये निमन्त्रण देने द्वारका गये। यह बात जब दुर्योधन ने सुनी तो वह भी अत्यन्त शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर चढ़कर द्वारका गया और अर्जुन के पहुँचने के प्रथम ही पहुँच गया। भगवान् अपने शयनागार में सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने बैठ गया और भगवान् के उठने की प्रतीक्षा करने लगा। उसी समय अर्जुन भी पहुँच गये। उन्होंने जब सुना कि दुर्योधन पहिले पहुँच गया है, तो वे शीघ्रता पूर्वक भीतर गये। वहाँ उन्होंने देखा—"भगवान् अभी शयन कर रहे हैं, उनके सिरहाने अकड़ा हुआ दुर्योधन बैठा है, तब आप भी जाकर भगवान् के चरणकमलों की ओर बैठ गये और उन्हें शनैः शनैः सुहलाने लगे।

अब भगवान् ने अङ्गड़ाई ली। नेत्रों को मलते हुए उठे और चरणों के समीप अर्जुन को देखकर हँसते हुए बोले—"पाण्डुनन्दन! तुम कब आये?"

इतने में ही शीघ्रता से दुर्योधन बोला—"वासुदेव! देखो, मैं पहिले आया हूँ, मेरा ध्यान रखना।"

अब भगवान् ने पीछे मुड़कर देखा, सिरहाने अकड़ा हुआ दुर्योधन बैठा है। आप शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए बोले—"अहा! महाराज दुर्योधन भी पधारे हैं। धन्यवाद! धन्यवाद! कहिये, कैसी कृपा की। कब आये, मुझे तो पता ही नहीं। आपने मुझे जगाया क्यों नहीं।"

दुर्योधन ने अभिमान में भरकर कहा—"देखिये, वासुदेव! आप धर्मात्मा हैं। क्षत्रियों के सदाचार को आप भली भाँति जानते हैं। आप हमारे और पाण्डवों के समान सम्बन्धी हैं। आपके

लिये हम दोनों ही एक समान हैं, क्यों हैं कि नहीं ?"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"समान ही नहीं आप अधिक हैं। आप तो हमारे सगे सम्बन्धी हैं। हाँ, तो क्या आज्ञा है ?"

दुर्योधन ने कहा—"हमारी आज्ञा क्या है आपको धर्म का पालन करना चाहिये। उदासीन राजाओं के पास दोनों पक्षों में से जिस पक्ष का प्रथम निमन्त्रण आ जाय, उसी पक्ष की ओर से लड़ना चाहिये। क्यों, यह सदाचार है कि नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, अवश्य यही सदाचार है। प्रथम निमन्त्रण को तो स्वीकार करना ही चाहिये।"

दुर्योधन ने हर्ष प्रकट करते हुए कहा—"बस, मैं आपके मुख से यही कहलाना चाहता था। देखिये, अर्जुन से पहिले मैं आपके पास आया हूँ, अतः आपको हमारी ओर से युद्ध करना चाहिये। यह अर्जुन बैठा है, आप इससे पूछ लीजिये मैं पहिले आया हूँ या नहीं।"

भगवान ने हँसते हुए कहा—"इनसे तो तब पूछूँ जब मुझे आपकी बात पर विश्वास न हो। आप कह रहे हैं, तो पहिले ही आये होंगे, किन्तु मैंने तो उठते ही सर्वप्रथम अर्जुन को देखा है, अतः मेरी दृष्टि में तो अर्जुन ही पहिले आया हुआ समझा जायगा। फिर भी, आपका भी तो सत्कार करना ही है।"

दुर्योधन ने कहा—"यह तो आप पक्षपात करने लगे।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अजी, इसमें पक्षपात की क्या बात है। नियमानुसार प्रथम आप आये और उठते ही सर्वप्रथम अर्जुन को मैंने देखा। इसलिये आप दोनों ही सहायता के अधिकारी हैं। मेरे पास विशाल नारायणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ। मेरी प्रतिज्ञा है, मैं महाभारत युद्ध में अस्त्र शस्त्र ग्रहण न करूँगा, केवल सम्मति दे सकता हूँ। इन दोनों वस्तुओं में से आप दोनों चाहे जिसे ले लें। अर्जुन [illegible]

वस्तु ग्रहण मे प्रथम अधिकार है, इसलिये पहिले इन दो में से यह चाहे जिसे ले सकता है।" इतना कहकर भगवान् अर्जुन से बोले—"बोल, भया! इन दो में से तू किसे लेता है।"

अर्जुन ने कहा—"वासुदेव! मैं तो आप को ही लूँगा।"

भगवान् न कहा— अरे, तुझे हो क्या गया है, मुझे निरख को लेकर क्या करेगा।"

यह सुनकर दुर्योधन ने उत्तेजना के स्वर मे कहा—"देखो, वासुदेव! अब तुम अर्जुन को उलटी पट्टी मत पढ़ाओ। उसने आपको लिया है, अब आपकी नारायणी सेना मेरी हुई। मुझे स्वीकार है, मुझे तो सेना की ही आवश्यकता है, आपको अर्जुन ने ले ही लिया।"

अर्जुन ने कहा—"हाँ, मुझे सेना की कुछ भी आवश्यकता नहीं, मुझे तो श्यामसुन्दर चाहिए। अकेले श्यामसुन्दर मुझे मिल जाँय, तो फिर मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

यह सुनकर दुर्योधन अत्यत हर्षित हुआ और फिर बलदेवजी के पास गया। बलदेवजी ने उसे गदा विद्या सिखायी थी, उसके प्रति उनका अनुराग भी था। इसीलिये उसने उनसे भी सहायता के लिये कहा। तब बलदेवजी ने कहा—"भैया दुर्योधन! देखो, हमारे लिये तो जैसे ही पाडव वैसे ही तुम, हमें तो किसी का पक्ष लेना ही न चाहिए। मैंने कृष्ण से भी कहा—"तू पाडवों का इतना पक्षपात क्यों करता है। करा सके तो दोनों में सधि करा दे, न करा सके, तो तटस्थ हो जा। किन्तु उसने मेरी बात मानी ही नहीं। जब वह पाडवों की ओर हो गया है, तो अब मुझे तुम्हारी ओर से युद्ध करना शोभा नहीं देता। मैं कृष्ण का बहुत सकोच करता हूँ, मैं उसके विपक्ष मे खड़ा नहीं हो सकता। अत न मैं पाडवों का पक्ष लूँगा न तुम्हारा। मैं तो युद्ध से तटस्थ रहूँगा। यहाँ द्वारका में रहने से समाचार मिलते रहेंगे, इससे मुझे क्रोध

आ जायगा, अतः मै यहाँ भी न रहूँगा। जब तक तुम्हारा युद्ध होगा, तब तक मैं तीर्थयात्रा करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर दुर्योधन प्रसन्न हुआ। वह बलदेव जी की आज्ञा लेकर चला गया। इधर बलदेव जी भी श्रीकृष्ण से पूछकर तथा अन्यान्य यादवों की अनुमति लेकर तीर्थयात्रा के लिये चले गये। इसी तीर्थयात्रा मे उन्होने यहाँ नैमिषारण्य मे मेरे पिता का वध करके मुझे उनका आसन दिया था और उसी यात्रा मे आपकी आज्ञा से उन्होंने बल्वल का वध किया था। इन प्रसङ्गो को मैं पीछे भी कह चुका हूँ, अब कथा प्रसङ्ग से पुनः भी संक्षेप मे कहूँगा। आप सब तो जानते ही हैं। आपके सम्मुख ही ये सब घटनायें हुईं थी।"

छप्पय

भयो युद्ध उद्योग पक्ष पाडव प्रभु लीयो।
उदासीन बनि रहौं यही बल निश्चय कीयो॥
तीरथ व्रत के व्याज द्वारका तैं चलि दीये।
पहुँचे क्षेत्र प्रभास तृप्त सुर, नर, ऋषि कीये॥
करत पुण्य तीरथ सकल, नैमिषार आये मुदित।
स्वागत हित ऋषि आप सब, उठे अर्घ्य दीयो उचित॥

बलदेव जी की तीर्थ यात्रा

[११६२]

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पिता न मेरे उठे रहे बैठे उच्चासन ।
बल सोचें यह धृष्ट करूँ हौं जाको शासन ॥
कुश अस्त्र तें तुरत पिता के काट्यो सिर कूँ ।
ऋषि बोले हम दियो ब्रह्म आसन पर इनकूँ ॥
बल बोले यह अघ भयो, भारी अति बलवान है ।
उपजा वक्ता बनै, आत्मा पुत्र समान है ॥

कभी कभी ऐसी अघटित घटना घट जाती है, जिसकी हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते, जिसके सम्बन्ध में पहिले कभी सोचा भी नहीं था, सहसा, देश, काल की परिस्थिति से ऐसा संयोग जुट जाता है, कि अनहोनी बात हो जाती है। साधारण पुरुषों की बात तो पृथक रही, बड़े बड़े अवतारी पुरुषों

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बलदेवजी द्वारका से चलकर प्रभास क्षेत्र गये। वहाँ स्नान करके तथा देवता, ऋषि, पितर और मनुष्यों को तृप्त करके ब्राह्मणों से घिरे हुए सरस्वती के किनारे किनारे [illegible] ।"

के द्वारा ऐसे कार्य हो जाते हैं, जिनका होना लौकिक दृष्टि से शुभ नहीं माना जाता, किन्तु परिस्थिति विवश कर देती है। इन सब बातो से यही निष्कर्ष निकलता है, कि भवितव्यता अत्यत ही बलवान् है। उसका किसी प्रकार निवारण ही नहीं किया जा सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! बलदेव जी द्वारावती से ब्राह्मणो को साथ लिये हुए तीर्थयात्रा के निमित्त चले। सर्व प्रथम प्रभास क्षेत्र मे आये। वहाँ आकर उन्होने विधिवत् देवता, पितर और ऋषियो का तर्पण किया। तीर्थ श्राद्धादि कृत्य किये। ब्राह्मणो को सुन्दर स्वादिष्ट रसीले कुरकुरे मुरमुरे भोजन कराये, जो भी याचक उनके सम्मुख आये सभी को उन्होंने इष्ट वस्तुएँ प्रदान करके सन्तुष्ट किया। वहाँ से वे सरस्वती के किनारे-किनारे प्रवाहाभिमुख होकर अपने साथी ब्राह्मणों के साथ आगे बढे। वहाँ से मातृगया के समीप विन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शनतीर्थ, बद्रीनारायण की विशालापुरी, उससे भी आगे ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, स्वर्गारोहण, होते हुए जहाँ व्यास जी ने वेदो का व्यास किया है, उस सम्याप्रास तीर्थ मे आये वहाँ उन्होने पूर्व वाहिनी सरस्वती नदी और अलकनदा के सगम-केशवतीर्थ मे-स्नान किया। फिर गगोत्री गये। गगा के किनारे-किनारे और यमुना के किनारे-किनारे के तीर्थों को करते हुए वे हरद्वार मे आये। वहाँ से गगा किनारे किनारे ब्रह्मावर्त क्षेत्र (बिठूर) मे आये। मुनियो, उन दिनों भी आपका यह सहस्र वत्सर वाला दीर्घ सत्र चल रहा था। उन दिनो मेरे पूजनीय पिता श्री रोमहर्षण जी आपको कथा सुनाया करते थे। आप लोगो के दर्शनों के निमित्त भगवान् सकर्षण ब्रह्मावर्त से चलकर यहाँ नैमिषारण्य मे आये। आप लोगो ने जब शेषावतार बलदेवजी का शुभागमन सुना तो आप सब परम प्रमुदित हुए। उसी समय बलदेवजी ने

प्रवेश किया। मेरे पिता व्यासगद्दी पर आप सब ऋषियों से ऊँचे बैठकर, पुराणों की कथा सुना रहे थे। आप सब तो उनके सम्मान के निमित्त उठकर खड़े हो गये, किन्तु मेरे पिता नियमानुसार उठे नहीं। वे ज्यों के त्यों आसन पर बैठे ही रहे। ऋषियों ने संकर्षण का अतिथि सत्कार किया, तथा उनकी विधिवत् पूजा की। मेरे पिता को व्यासगद्दी पर सब ऋषियों से ऊँचे बैठे देखकर, बलदेवजी को क्रोध आ गया। उन्होंने सोचा—"देखो, ये इतने बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि तपस्वी मुझे देखकर स्वागत के लिये अपनी शालीनतावश उठकर खड़े हो गये हैं, किन्तु यह रोमहर्षण सूत होकर भी चुपचाप अपने आसन पर ही बैठा रहा। न तो यह अपने आसन से खड़ा ही हुआ, न प्रणाम नमस्कार ही किया। अवश्य ही इसे अपनी विद्वता का अभिमान हो गया है। यह भगवान् वेदव्यास का शिष्य होकर भी ऐसा अशिष्ट और विनयहीन हो गया है, इसे अवश्य ही दण्ड देना चाहिये।" यही सब सोचकर वे क्रुद्ध हो उठे। यद्यपि वे तीर्थ यात्रा के नियम में थे उन्होंने शस्त्रों को छोड़ दिया था, फिर भी भवितव्यता वश वे पिताजी का वध करने को उद्यत हो गये। वे हाथ में कुशाओं का मूँठा लिये हुए थे, उसी की एक कुशा में ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर, उन्होंने पिताजी के ऊपर छोड़ दिया। अमोघ ब्रह्मास्त्र से पिताजी का शरीर निर्जीव होकर, आसन से नीचे गिर गया।। सब ऋषि मुनि हाहाकार करने लगे। ऋषियों ने बलदेवजी से कहा—"प्रभो! आपने अनजान में यह बड़ा अधर्म का कार्य कर डाला। हम सबने सूत होने पर भी इन्हें ब्रह्मासन दिया था। और जब तक हमारा यज्ञ समाप्त न हो, तब तक को इन्हें आयु और नीरोगता भी प्रदान की थी। अब आपने बीच में इन्हें मारकर हमारे यज्ञ में विघ्न उपस्थित कर दिया।"

बलदेवजी ने कहा—"मुनियो! मुझसे भूल हो गयी। अब

आप जो भी आज्ञा दे, वही प्रायश्चित्त करने को मैं तत्पर हूँ। कहिये तो मैं इसे जिला दूँ।"

ऋषियों ने कहा—"महाराज! जिला देने मे आपका अस्त्र निष्फल हो जायगा। हम यही नहीं चाहते। ऐसा कार्य कीजिये, कि आपका अस्त्र प्रयोग भी निष्फल न हो और हमारे यज्ञ में विघ्न भी न हो।"

यह सुनकर बलदेवजी बोले—"मुनियो! वेद का वचन है, कि पिता की आत्मा ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। अतः इसका पुत्र उग्रश्रवा इसके स्थान पर वक्ता हो और वह दीर्घआयु, इन्द्रिय-बल तथा सभी प्रकार के बलों से सम्पन्न हो। इसके अतिरिक्त आप और भी जो प्रायश्चित्त बतावें उसे भी मैं करने को उद्यत हूँ।"

ऋषियों ने कहा—"एक इल्वल नामक दानव का पुत्र बल्वल है, वह पर्व पर्व पर आकर हमारे यज्ञ को दूषित करता है। यज्ञ के समय आकाश से पीब, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, मद्य तथा मांस आदि अमेध्य पदार्थों की वर्षा करता है। इस पापी को आप किसी प्रकार मार डालें, तो यह आपकी बड़ी भारी सेवा होगी। फिर आप बारह महीने तीर्थों की यात्रा करें। इससे आप दोष से मुक्त हो जायँगे। दोष मुक्त तो आप हैं ही। दोष आपको स्पर्श ही नहीं कर सकते। आप तो निष्पाप हैं, फिर भी लोक संग्रह के निमित्त आप इस प्रायश्चित्त व्रत का अनुष्ठान करें।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है, आप जो भी मुझे प्रायश्चित्त बतावेंगे, उसे मैं करूँगा, और आपका प्रिय करने के निमित्त मैं इस यज्ञ में विघ्न करने वाले बल्वल का भी वध करूँगा। अब इन मृतक लोमहर्षण जी का विधि विधानपूर्वक संस्कार करावें और इनके पुत्र महाबुद्धिमान उग्रश्रवा को अपना पौराणिक वक्ता बनावें।"

मुनियों ने कहा—"देव ! हम ऐसा ही करेंगे। आप पर्व आने तक यहाँ विराजें। पर्व के समय जब वल्वल असुर आवे तब आप उसका वध करके तीर्थयात्रा को जायें। हम इन सूतजी का विधिपूर्वक संस्कार कराके इनके पुत्र को पुराण वक्ता बनाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं "मुनियो ! पिताजी के संस्कार होने के अनन्तर, आप सबने मुझे वक्ता बना दिया है। तब से मैं यथा भक्ति यथाशक्ति आप सबकी सेवा कर रहा हूँ। इस प्रकार तीर्थ यात्रा के प्रसंग में मेरे पिता का बलदेवजी द्वारा वध हुआ। अब उन्होंने जिस प्रकार वल्वल असुर को मारा और तीर्थयात्रा की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

और कहें सो करूँ बतावें अपर प्राइचित।
ऋषि बोले–नित विघन करै वल्वल पापी इत ॥
ताकूँ मारें अबहिँ बरष भरि पुनि तीरथ करि।
यद्यपि आप विशुद्ध शुद्ध होवें द्विज दुख हरि ॥
बल बोले हे विप्रगन, वल्वल को वध करूँगो।
द्विज द्रोही कूँ नष्ट करि, सब संकट दुख हरूँगो ॥

वल्वल वध और बलदेवजी का प्रायश्चित्त

[११६३]

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।
मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥
सोऽपतद् भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक् समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥*

(श्री० भा० १० स्क० ७६ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

वक्ता मोकूँ करयो रहे कछु दिन यदुनन्दन ।
करयो उपद्रव आइ परब पै बल्वल भीषन ॥
हल तैं खेंच्यो असुर तानि मूसर सिर मारयो ।
करत भयङ्कर शब्द गिरयो परलोक सिधारयो ॥
यों बल्वलकूँ मारिकें, तीरथ हित बल चलि दये ।
तब तक कौरव खल नृपति, भारत रन महँ मरि गये ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्री बलरामजी ने उस आकाश मे गमन करने वाले ब्रह्मद्रोही बल्वल असुर को अपने हल के अग्रभाग से खींचकर अत्यंत क्रोधित होकर मूसल से उसके सिर पर प्रहार किया । उस मूसल के लगते ही उसका मस्तक फट गया इससे वह दुखी होकर चीत्कार करता हुआ, तथा रक्त उगलता हुआ उसी प्रकार प्राणहीन होकर गिर गया, जिस प्रकार गेरू का लाल पर्वत इन्द्र के वज्र से गिर जाता है ।"

सर्वसमर्थ ईश्वरकोटि के पुरुषों की जितनी चेष्टायें होती हैं, वे सब लोक कल्याण के ही निमित्त होती है। वे स्वयं तो पाप पुण्य से रहित होते हैं फिर भी यह धर्म है, यह अधर्म है इसे जताने के लिये वे धर्म का आचरण करते हैं और जहाँ लौकिक दृष्टि से अधर्म-सा हो गया हो, उसका वे प्रायश्चित्त करते हैं। वास्तव में उन्हें धर्माधर्म स्पर्श भी नहीं करता फिर भी लोक संग्रह के लिये वे वेसे आचरण करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भूल से कोई पाप हो जाय, तो तीर्थ, व्रत उपवास तथा देवता, द्विज, गुरु और सम्माननीय पुरुषों की सेवा द्वारा तथा अन्यान्य शास्त्रीय प्रायश्चित्तों द्वारा उसका परिमार्जन किया जाता हे। जब भगवान् संकर्षण द्वारा मेरे पूज्य पिता का वध हो गया, तब आप सबने उन्हें दो कार्य बताये। एक तो वल्वल का वध करके हमारे यज्ञ के विघ्न को दूर कर दो दूसरे बारह महीने तीर्थों में भ्रमण करो तब आप विशुद्ध होंगे। सर्वज्ञ बलदेवजी ने ये दोनों बातें स्वीकार कीं। अब वे वल्वल के वध निमित्त कुछ दिन नेमिषारण्य में ठहर गये। अब वे उस पर्व की प्रतीक्षा करने लगे, जिस पर्व के आने पर वह असुर आया। वह आकाश से धूलि वर्षाता हुआ आ रहा था, उसके आते ही प्रचण्ड वायु चलने लगी। सब ओर दुर्गन्धि फैल गयी। मदिरा मांस, मल, मूत्र, रुधिर, पीव, तथा अन्यान्य अमेध्य वस्तुओं की वह वर्षा कर रहा था। आप लोगों ने भगवान् संकर्षण को उसे दिखा दिया। प्रथम तो वह धूलि आदि के बीच में दिखायी ही नहीं दिया। कुछ काल के अनन्तर हाथ में त्रिशूल लिये वह भयङ्कर राक्षस दिखायी पड़ा। बलरामजी ने देखा, वह दैत्य साधारण नहीं है। अञ्जन के पर्वत के समान वह कृष्ण वर्ण का तथा महान् डील डौल वाला था। उसकी दाढ़ी मूछें तथा सिर के केश तपाये हुए ताँबे के सदृश लाल-लाल रूखे और कड़े थे। वे खड़े हुए थे।

पर्वत की कन्दराओं के समान उसकी गोल-गोल दो आँखें थीं। हल की फार के समान तीक्ष्ण और टेढी-टेढी उसकी दाढें थीं। कुटिल भ्रुकुटियों के कारण उसका मुखमण्डल बड़ा ही भयङ्कर प्रतीत होता रहा था सकर्षण ने सोचा—'बिना हल मूसल के यह मरने का नहीं।" अतः उन्होंने अपने हल मूसल को स्मरण किया। स्मरण करते ही वे दोनों दिव्यास्त्र तुरन्त वहाँ उपस्थित हुए।

अब बलदेवजी ने सिंह के समान गर्जना की। उसे सुनकर असुर आकाश में उड़ने लगा और अपना भयङ्कर रूप दिखाने लगा। बलरामजी ने उस द्विजद्रोही असुर की ओर अपना हल बढाया। हल की नोंक को उसकी ग्रीवा मे डालकर ज्योंही उसे खींचा, त्योंही वह चिङ्घाडता हुआ विवश होकर खिचने लगा। जब वह समीप आ गया, तो क्रोध मे भरकर उसके सिर पर एक मूसल जमा दिया। मूसल के लगते ही उस खल की खोपडी खील खील हो गया। उसमें से रक्त की धारा उसी प्रकार बहन लगी, जैसे अजन के पर्वत से लाल रग का जल फूटकर बह रहा हो। वह उसी प्रकार गिर गया जैसे इन्द्र के द्वारा पख काटे जाने पर पर्वत गिर गये थे। यह देखकर आप सब ऋषिमुनि अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। आपने शेषावतार बलदेवजी की स्तुति की। ब्राह्मण होने के नाते उन्हें आशीर्वाद दिये और जैसे वृत्र के वध पर देवताओं ने इन्द्र का अभिषेक किया। था उसी प्रकार आप सबने उनका सविधि अभिषेक किया। अम्लान पुष्पों की मालायें रेशमी वस्त्र तथा बहुत से दिव्य आभूषण प्रदान करके आपने वल्वलहारी बलदेवजी का अत्यधिक सम्मान किया।

इस प्रकार आप सबसे सत्कृत तथा पूजित होकर बलदेवजी आप सबकी पूजा करके उत्तराखण्ड के शेष तीर्थों के लिये चले। कोशकी नदी को पार करके उन्होने कूर्माचल पर्वत श्रेणियों में

प्रवेश किया। कौशकी जहाँ सरयू से मिलती हैं वहाँ से वे सरयू नदी के किनारे-किनारे मानसरोवर तक गये, जहाँ से भुवन पावनी सरयू नदी निकलती है। फिर सरयू के किनारे-किनारे चलते हुए वे अयोध्या होते हुए तीर्थराज प्रयाग में पधारे। प्रयाग में पहुँचकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रयागराज संसार में सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है। जहाँ गंगाजी हैं वहाँ यमुनाजी नहीं, जहाँ यमुनाजी हैं वहाँ गंगाजी नहीं। यहाँ गंगा यमुना और सरस्वती तीनों भुवनपावनी सरितायें प्रवाहित होती हैं। ये समस्त तीर्थों के एक मात्र चक्रवर्ती एकछत्र राजा हैं। करोड़ों तीर्थ इनकी उपासना के निमित्त यहाँ निवास करते हैं। इस क्षेत्र में स्नान, दान, तर्पण, हवन तथा पूजनादि का सबसे अधिक महात्म्य है। यहाँ पर किये हुए सब कर्म करोड़ों गुने हो जाते हैं। बलदेवजी यहाँ स्नान पूजन तथा देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण करके आगे बढ़े। काशीजी होकर अपने गाधिपुर (गाजीपुर) के समीप गोमती स्नान किया जहाँ भगवती गोमती गंगा के गर्भ में प्रवेश कर जाती हैं। फिर विपाशा, शोणभद्र आदि पुण्य नदियों में स्नान दान करते हुए पुलहाश्रम–हरिहर क्षेत्र मे पहुँचे। जहाँ भगवती गंडकी गंगाजी मे मिलती हैं। गडकी और गंगा मे स्नान करते हुए आप गयाजी में गये। वहाँ आपने अपने पितरों का तर्पण किया। फिर आप गंगाजी के किनारे-किनारे गङ्गासागर संगम तक गये। जहाँ भगवान् कपिल समुद्र के दिये हुए स्थान में अब तक निवास करते हैं। गंगासागर मे स्नान करके तथा भगवान् कपिल का दर्शन करके समुद्र के किनारे-किनारे जगन्नाथपुरी में पहुँचे। इस प्रकार उत्तराखण्ड के तथा पूर्व के तीर्थों को करते हुए आप दक्षिण के तीर्थों में गये। दक्षिण में महेन्द्र पर्वत पर जाकर भगवान् परशुराम का दर्शन किया। फिर समुद्र के उस स्थान पर गये जहाँ गोदावरी गंगा की सात धारायें हो गयी हैं और वे सातों धारायें

दक्षिण समुद्र मे मिली हैं। वहाँ से आप पम्पा सरोवर पर गये। फिर वेणा, भीमरथी आदि पुण्य सरिताओ में स्नान करके स्वामि कार्तिकेय जी के दर्शनों के निमित्त गये। फिर श्री पर्वत पर जाकर भगवान् वृषभध्वज का दर्शन किया। फिर द्रविण देश में जाकर परम पवित्र वेङ्कट पर्वत पर गये, वहाँ तिरुपती बालाजी के दर्शन करके अन्य सुप्रसिद्ध दिव्य देशों के दर्शन करते हुए आगे बढ़े। आगे चलकर आप श्रीरङ्गम् क्षेत्र मे आये जहाँ पर परम पवित्र कावेरी नदी है और जहाँ पर भगवान् श्रीरंग नाम से सदा निवास करते हैं। श्रीरङ्गम से चलकर आप ऋषभपर्वत पर हरिक्षेत्र के दर्शन करके दक्षिण मथुरा (मदुरा) मे पहुँचे, जहाँ पर कामाक्षी देवी का अत्यंत ही भव्य मंदिर है। मदुरा में कुछ दिन रहकर तथा कृतमाला नदी मे स्नान करके वे आगे कामकोटि तीर्थ कुंभकोण मे आये। वहाँ से चलकर आप श्रीरामेश्वर में पहुँचे। उस पवित्र धाम मे बलभद्रजी दश सहस्र गौओं का ब्राह्मणों के लिये दान दिया। धनुष्कोटि पर दो समुद्रों के संगम मे स्नान कर आप पुनः मदुरा में लौट आये। फिर कृतमाला और ताम्रपर्णी पवित्र नदियों मे स्नान करते हुए कुलाचल मलयपर्वत पर पहुँचे। मलयाचल पर विराजमान भगवान अगस्त्य के पादपद्मों मे प्रणाम करते हुए यदुनन्दन बलदेवजी दक्षिण समुद्र के किनारे कन्याकुमारी स्थान मे पहुँचे। जहाँ से आगे समुद्र ही समुद्र है। फिर अनन्तशयन भगवान के उस क्षेत्र में गये जहाँ शेष शैया पर शयन करते हुए भगवान् के दर्शन होते हैं। इस प्रकार पद्मनाभ, जनार्दन के दर्शन करके तथा पञ्चाप्सरस नामक सरोवर मे स्नान करके आप अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। अनन्तशयन पद्मनाभ क्षेत्र मे उन्होंने ब्राह्मणों को दस सहस्र गौओं का दान दिया। फिर आप लौटकर दक्षिण के केरल, त्रिगर्त आदि देशों के दिव्यदेशों के दर्शन करके तथा पुण्य सरिताओं में स्नान करके गोकर्ण नामक शिव क्षेत्र में पहुँचे जहाँ सदाशिव

सर्वदा सन्निधि बतायी जाती है। फिर द्वीप में रहने वाली आर्या देवी के दर्शन किये। आगे शूर्पारक क्षेत्र में गये। फिर तापी पयोष्णी तथा निर्विन्ध्या आदिक नदियों में स्नान करते हुए दण्डकारण्य में पधारे। इस प्रकार वहाँ से घूमते हुए आप माहिष्मती पुरी माहेश्वर में आये। नर्मदा नदी में स्नान करके आप फिर लौटकर गुर्जर प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थ प्रभास पट्टन क्षेत्र में आये। इसी तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में उन्होंने सुना कि महाभारत युद्ध हो चुका अब भीमसेन और दुर्योधन का गदायुद्ध होने वाला है, इसे सुनकर वे वायुवेग से कुरुक्षेत्र में आये। दोनों को रोकना चाहा नहीं रुके। अत में भीमसेन ने युद्ध के नियमों के विरुद्ध दुर्योधन की जाँघ तोड दी इस पर बलदेवजी अत्यंत कुपित हुए। श्रीकृष्ण भगवान् के समझाने पर दैवकी ऐसी ही गति समझकर वे लौटकर द्वारकापुरी पहुँच गये। फिर तीर्थयात्रा समाप्त करके अपने बन्धुबान्धवों तथा पत्नी के साथ पुनः नैमिषारण्य क्षेत्र में आये और आकर आप ऋषियों से उन्होंने निवेदन किया—"मैं आपकी आज्ञानुसार पृथ्वी के सब तीर्थों की यात्रा कर आया हूँ, अब मेरे लिये आप क्या आज्ञा देते हैं।"

यह सुनकर आप सब ब्रह्मज्ञानी ऋषियों ने उनसे प्रायश्चित्तादि करा कर सब प्रकार के यज्ञ कराये। यज्ञ हो जाने के अनन्तर बलदेवजी ने कहा—"ऋषियो! आपने मुझसे यज्ञ कराये हैं, अब इन यज्ञों की दक्षिणा में आपको क्या दूँ। आप जो चाहे सो मुझसे दक्षिणा माँग लें।"

ऋषियों ने कहा—"भगवन्! हम सोना चाँदी की नाशवान् दक्षिणा लेकर क्या करेंगे हमें तो आप विशुद्ध विज्ञान का उपदेश दें। जिससे हम इस ससार सागर को सरलता से पार कर जायँ।"

यह सुनकर संकर्षणावतार भगवान् बलराम ने आप सबको

विशुद्ध विज्ञानमय उपदेश दिया। जिसके प्रभाव से आप सब को निश्चय हो गया कि आत्मा में ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है और इस जगत् के अणुपरमाणु मे सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से आत्मा व्याप्त है।

इस प्रकार विज्ञानमय दक्षिणा देकर बलरामजी ने अपनी पत्नी रेवतीजी के साथ यज्ञान्त अवभृतस्नान किया। इस प्रकार वे सूतजी की हत्या के प्रायश्चित्त को करके सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलकृत होकर अपने बन्धु बान्धवों के बीच पत्नी सहित ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों उडुगनों के बीच में चन्द्रिका के सहित चन्द्रदेव विराजमान हों। यज्ञादि से निवृत्त होकर और आप सब श्रेष्ठ ब्राह्मणों से अनुमति लेकर वे द्वारकापुरी को चले गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। इस प्रकार मुनियो! ईश्वर होकर भी बलरामजी ने लोक सग्रह के निमित्त पिताजी के वध का आप सबके कहने से प्रायश्चित्त किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमें बलरामजी के और भी चरित्र सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! एक दो या दस बीस चरित्र हों, तो उन्हें मैं सुनाऊँ भी। महाबलशाली अनन्त, अप्रमेय तथा माया से मनुष्य बने भगवान सकर्षण के अगणित चरित्र हैं। उनका अन्त नहीं, पार नहीं। चतुर्व्यूह में अहकार के अधिष्ठातृ देव ये सकर्षण सबकी आत्मा ही हैं, जो इनके चरित्रों को श्रद्धा सहित सुनेंगे उन पर इनके छोटे भाई भगवान् वासुदेव प्रसन्न होंगे जो लोग साय प्रातः सकर्षण भगवान के नामों का तथा उनके गुणों का कीर्तन करेंगे, वे परमपद के अवश्य ही अधिकारी होंगे। इस प्रकार मैंने सक्षेप में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के तथा बलरामजी के कुछ चरित्र कहे। मेरे गुरुदेव भगवान् शुक महाराज परीक्षित् से इतना ही भागवत चरित कहकर

चुप हो गये। आज उन्हें कथा सुनते-सुनते छै दिन हो चुके थे। पष्ठाह मे अभी कुछ समय शेष था। इसलिये वे घवरा गये, कि भगवान् शुक कहीं यहीं पर तो भागवतचरित की समाप्ती न कर देंगे। मेरा तो संकल्प है भगवान् के चरित्र सुनते-सुनते ही इस नश्वर शरीर का अन्त कर दूँ। भगवत् नाम गुण श्रवण से बढ़कर मृत्यु समय मे कोई सरल, सुगम और सर्वोपयोगी साधन नहीं है। यही सब सोचकर वे कहने लगे।

महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से कहने लगे—"भगवन्! आप चुप क्यो हो गये। यह तो हो ही नहीं सकता, कि भगवान् के अब कोई चरित्र रहे ही न हो, सब समाप्त हो गये हो। भगवान् के चरित्र तो कभी समाप्त होते नहीं, क्योकि वे अगनित हैं, कभी समाप्त न होने वाले हैं। मेरी मृत्यु मे भी अभी समय शेष है, अतः उन अनन्त वीर्य अच्युत अविनाशी श्रीहरि के कोई अन्य पवित्र चरित्र सुनावें।"

यह सुनकर श्रीशुकदेव जी हँसे और बोले—"राजन्! आप बार-बार उसी एक प्रश्न को क्यो करते हैं? आपका भगवान् के चरित्र श्रवण मे ही इतना अधिक आग्रह क्यो है?"

यह सुनकर आँखो मे आँसू भरकर महाराज परीक्षित् बोले—"ब्रह्मन! यह जीव सुख चाहता है, सुख की खोज मे ही भटक रहा है। यह किसी से प्यार करना चाहता है। प्रेम के लिये व्याकुल होता है, किसी अत्यन्त प्रियतम को हृदय से सटाने के लिये विह्वल हो रहा है, तड़प रहा है, किन्तु संसार मे सर्वत्र स्वार्थ का बोलबाला है। जो मिलना चाहता है, स्वार्थ से। जो विषयो का कीडा है, जिसके मन में काम की वासना है, वह शुद्ध प्रेम कर ही नहीं सकता। प्यारे की मधुर वाणी सुनकर ये कर्ण तृप्त होते हैं, किन्तु नित्य सुख सम्बन्धी बाते सुनने को मिलती नहीं। पे [illegible] पर [illegible] पर निन्दा सुनाई पड़ती है। जहाँ भी दो

व्यक्ति बैठेंगे ये ही बातें होंगी, वह ऐसा है वैसा है। उसने यह किया वह किया। दूसरों के गुण दोषों की ही चर्चा होती है। इससे जो विशुद्ध प्रेम का भूखा है, उसका मन ऊब जाता है, उसे संसार सूना-सूना दिखायी देता है।

जब जीव नाना प्रकार के विषय सुखों को खोजते-खोजते थक गया हो और जिसे सार वस्तु के श्रवण की इच्छा उत्पन्न हो गयी हो, ऐसे व्यक्ति के सामने भगवान् अथवा भक्तों के चरित्र सुनाये जायँ, तो कभी भी उसकी उन चरित्रों को सुनते-सुनते तृप्ति न होगी। उसे यह लालसा निरन्तर बनी ही रहेगी, कि इन्हें और सुनूँ और सुनूँ। बार-बार सुनने पर भी वह उनसे उपरत नहीं हो सकता। प्रभो ! वाणी की सफलता गोविन्द के गुणगान में ही है। करों की सफलता कृष्ण कैंकर्य करने में ही है। जो हाथ भगवत्सम्बन्धी कार्य करते हैं वे ही यथार्थ हाथ है मन की सफलता मनमोहन की माधुरी के ही मनन में हैं। जो मनुष्य माधव के मनोहर रूप का स्मरण करता है उसी का मनस्वी होना सफल है। कर्ण कुहर वे ही कमनीय हैं, जो कृष्ण कथा रस के रसिक हैं। सिर वही सफल है जो भगवान् की चल प्रतिमा साधुसन्त और अचल प्रतिमा अर्चाविग्रह आदि को प्रणाम करता है। नेत्रों की सफलता भगवान् के तथा भगवद्-भक्तों के दर्शन में ही है। जिन अङ्गों पर भगवान् का चरणामृत तथा उनके भक्तों का चरणामृत पड़ जाता है, वे ही अङ्ग सफल हैं। सो प्रभो ! मेरे कर्णों को कृष्ण कथा से भर दो, मुझे भगवान के और भी सुखप्रद चरित्र सुनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज परीक्षित् ने भगवत् चरित्र श्रवण में अपनी अत्यधिक उत्सुकता तथा उत्कंठा प्रदर्शित की तो भगवान् शुक परम प्रमुदित हुए। उन्हें सहसा सुदामाजी का चरित्र याद आ गया। उस चरित्र के स्मरण मात्र

से ही गुरुदेव का शरीर रोमाचित हो गया। उनका हृदय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में तल्लीन हो गया। कुछ क्षणों में याद स्मृति हुई। और फिर वे सुदामा चरित कहने लगे। अब जिस प्रकार मेरे गुरुदेव श्री भगवान् शुक ने महाराज परीक्षित् से सुदामा चरित कहा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप दत्तचित होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भीम सुयोधन लड़ें न बल बल बहुत लगायो।
किन्तु उभय हठ करी सुयोधन स्वरग सिधायो॥
नैमिषार पुनि आइ यज्ञ बलदाऊ कीन्हों।
यज्ञ दक्षिणा रूप ज्ञान तुम सबकूँ दीन्हों॥
यो वध बल्वल को कर्यो, संकरषन अवतार बल।
सुनहु सुदामा चरित अब, परम सुखद अतिशय विमल॥

सुदामा चरित

[११६४]

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा॥*

(श्री भाग० १० स्क० ८० अ० ६, ७ श्लोक)

छप्पय

हरि सहपाठी सखा सुदामा रहे विप्रवर।
मलिन वसन तन छीन दीन भिच्छुक फूट्यो घर॥
पतिनी तिनकी खरी दूबरी करुना मूरति।
हरि-साली घर हिली करी तिनकी अति दुरगति॥
भिच्छामें जो कछु मिलै, ता तैं करि निरबाह नित।
हरि सुमिरन दोउ करत, नहिँ अधर्म महँ देहिँ चित॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! श्रीकृष्ण भगवान् के एक ब्राह्मण सखा थे। वे ब्रह्मज्ञानी, इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, प्रशान्तात्मा और जितेन्द्रिय थे। वे फटे पुराने कपड़े पहिने रहते थे और उसी प्रकार भूख से दुबली हुई उनकी स्त्री थी। वे गृहस्थाश्रम में ही वर्तमान रहकर प्रारब्धवश जो भी मिल जाता उसी पर निर्वाह करते थे।"

धनी होने मे दुःख ही दुःख हैं और निर्धन होने में सुख ही सुख हैं किन्तु निर्धनता यदि आवश्यकता से अधिक हो जाय, तो पापी पेट को भरने की चिन्ता आठों पहर लगी रहे, ऐसी दरिद्रता से बढ़कर संसार में कोई भी दुःख नहीं। मनुष्य सब कुछ सहन कर सकता है, किन्तु वह अधिक काल तक भूख को सहन नहीं कर सकता। क्षुधा को 'कष्टानुकष्टरी' बताया है। अपनी भूख किसी प्रकार सही भी जा सकती है, किन्तु जब छोटे छोटे बच्चे भूख के कारण तड़पने लगते हैं, तब अच्छे-अच्छों का धैर्य छूट जाता है। उस समय यह बात मनमें आ ही जाती है कि हाय ! भगवान् को दया नहीं आती। इस अवस्था मे भी धर्म पर टिके रहना, मनको विचलित न होने देना, अधर्म की ओर प्रवृत्ति न होना, यह बड़े पुण्य का काम है। जिसने पूर्वजन्मों मे महान पुण्य न किये हों, वह ऐसा लोकोत्तर साहस कर ही नहीं सकता। दरिद्रता के पराकाष्ठा पर पहुँचने पर मन विचलित हो ही जाता है। जिसका मन विचलित न हो, वह श्रीकृष्ण का सखा है, सुहृद है, उनके तुल्य ही है। वह भगवान् का भैया ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज परीक्षित् ने भगवान् शुक से कोई अन्य भगवत्चरित सुनाने की अत्यन्त हठ की, तो वे अति मधुर प्रेम का पुण्य प्रतीक सुदामा चरित सुनाने को प्रस्तुत हुए। उसी चरित को मैं आपको सुनाता हूँ।"

काठियावाड़ प्रान्त मे एक जूनागढ़ परम प्रसिद्ध स्थान है, उसमें एक सुदामा नाम के दरिद्र ब्राह्मण रहते थे। वे बड़े ही संयमी, सुशील, सदाचारी, सत्यवादी, सरल तथा साधुसेवी थे। वे ब्रह्मज्ञानी थे। संसार के सुन्दर से सुन्दर पदार्थ उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते थे। जितने भी इन्द्रियों को सुख देने वाले विषय हैं, उन सबसे वे सर्वथा विरक्त थे। वे अत्यंत ही दरिद्र और निष्किञ्चन थे। इतने पर भी उनका चित्त कभी चंचल

नहीं हुआ। दरिद्रता सम्बन्धी जितने भी दुख आते उन्हें शान्त-चित्त से साहस के साथ सहन करते। उन्होंने इन्द्रियों को अपने वश मे कर रखा था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! क्या सुदामाजी सन्यासी भिक्षु थे?"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज! वे संन्यासी नहीं थे, गृहस्थ थे। उनकी वृत्ति भिक्षा ही थी। भिक्षापर ही वे निर्वाह करते। प्रारब्धवश जो भी कुछ रूखा-सूखा, थोडा बहुत मिल जाता, उसी पर निर्वाह करते। प्रारब्धवश से उन्हें कभी उतना अन्न नहीं मिला, जिनसे सब प्राणियों का पेट भर जाय। कभी आधे पेट रहते और कभी पूर्ण उपवास भी करना पडता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गृहस्थ मे दारिद्र दुख बहुत अखरता है। अपने पेट मे तो किसी प्रकार पत्थर बाँधकर समय विताया भी जा सकता है, किन्तु जब फूल जैसे बच्चे भूख से बिलबिलाने लगते हैं, तब सब ज्ञान ध्यान भूल जाता है। यदि दरिद्रता मे स्त्री भी कर्कशी मिली, तब तो वह दरिद्रता रौरव नर्क से भी बढकर दुखदायी हो जाती है। सौभाग्य की बात यह थी कि सुदामाजी की पत्नी कर्कशा नहीं थी। वह सती-साध्वी पति-परायणा और सुशीला थी। स्वयं दुख मे रहकर पति को सुखी रखने की चेष्टा करती। जो असती स्त्रियाँ होती हैं। वे निर्धन पति का परित्याग करके पर पुरुष को भेजने लगती हैं, किन्तु प्रतिव्रता के लिये अपना पति कैसा भी हो वही सर्वस्व है, उसे छोडकर वे अन्य किसी पुरुष की ओर आँखें उठाकर भी नहीं देखती।"

सुदामाजी जैसे दुर्बल थे, वैसी ही उनकी पत्नी थी। भिक्षामे जो कुछ मिलता उसे पवित्रता के साथ बनाकर भगवान को भोग लगातीं, अपने पति को भोजन करा देतीं, बच्चों को खिला देतीं,

यदि एक आधी रोटी वच जाती, तो उसे खाकर जल पी लेतीं, कुछ न वचता तो उपवास कर जातीं। सुदामाजी पूछते—'प्रिये! तुमने कुछ प्रसाद पाया ?''

तव कह देतीं—"हाँ महाराज! सब आनन्द है, आप मेरी कुछ चिन्ता न करे।" उन्हें प्रायः उपवास करने पडते। इससे वे सुदामाजी से भी अधिक दुर्वल थीं। उनकी एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी। उनके पास एक अत्यन्त ही मैली धोती थी। उसमें इतनी थेगरियाँ लगी हुयीं थी कि अब उसमे कहीं सीने के लिये स्थान नहीं था। उसे पत्थर पर पछाडकर इसलिये नहीं धोती थीं कि इसके टाँके खुल जायँगे और फट जायगी। दूसरे उनके पास नहाने को दूसरी धोती थी भी नहीं। उसी धोती को आधी निचोडकर आधी को सुखा लेती, तव उसे पहिनकर शेष आधी को भी सुखाती। कई वर्ष पहिले जव सुदामाजी को कहीं नयी धोती मिली थीं तव उनकी इस पुरानी धोती को पत्नी ने ले लिया था। तवसे जसी-तैसी थेगरी लगाकर उसे चला रही थीं। अब उसकी ऐसी दशा हो गयी थी। कि जहाँ भी वैठतीं तनिक दवने से-चर्र से फट जाती। इसलिये अब वे दिन में वाहर निकलने योग्य नहीं रही थी। सुदामाजी के पास भी न जाने कवकी एक पुरानी पगडी थी, एक पुरानी अङ्गरखी थी, जिसमें रंग विरंगी थेगरी लगी हुयी थी। धोती कुछ अच्छी थी। घर में वर्तनों के नाम पर एक फूटा तवा और एक काठ की कठोती थी। मिट्टी के दो पुराने वर्तन भी थे, एक टूटी खटिया और फूटी लुटिया भी थी। घर के ऊपर के छप्पर का फूँस सड-सडकर गिर गया था, उसमें कुछ वाँस लगे थे। जिनमें से रात्रि के समय सब तारे गिने जा सकते थे। एक वहुत पुराने कपडों की कथरी थी जिसमें से दुर्गन्धि आती, उसे टूटे खाट पर विछाकर माता अपने वच्चों को सुला देती और अपने आप भूमि में पड़कर

रात्रि बिता देती। वर्षा के दिनों में तो उन्हें सम्पूर्ण रात्रि जागकर ही बितानी पडती।

एक बार तीन दिनों तक वर्षा होती रही। सुदामाजी बाहर कहीं भिक्षा के लिये न जा सके। घर मे अन्न का एक दाना नहीं था। छोटा बच्चा भूख के कारण तडप रहा था। माता उसे बार-बार स्तन पिलाती, किन्तु उन सूखे स्तनों में दूध कहाँ। दूध की तो बात ही क्या रक्त की भी बूँदें उनमे नहीं थीं। जैसे-तसे कहीं से माँग जाच कर बच्चे को कुछ खिलाया। तीसरे दिन जब कहा भी आशा न रही और बच्चा अत्यधिक रोने लगा। तब तो पतिव्रता का हृदय फटने लगा। उसने कभी भी मुख से आह नहीं निकाली थी। न अपना दुख कभी पति के सम्मुख प्रकट ही किया था। प्रकट न करने पर भी सुदामाजी सब जानते थे, किन्तु आज उस पर नहीं रहा गया। बच्चे की ऐसी दुर्दशा देखकर मातृहृदय फटने लगा। आज जब दारिद्र दुःख से अत्यन्त ही दुखित हो गयी तो वह कुछ कहने को अपने पति के सम्मुख आयी। पतिव्रता का हृदय धडक रहा था, भय के कारण वह काँप रही थी। उसका मुख मलीन हो रहा था, सम्पूर्ण साहस बटोर कर उसन बडे ही मधुर स्वर मे कहा – "प्राणनाथ ! मैंने सुना है, आपके मित्र साक्षात् श्रीपति हैं।"

खिन्न मन से सुदामाजी ने कहा—"प्रिये ! मेरा उनका क्या सम्बन्ध, वे श्रीपति हैं, मैं भिक्षुक दरिद्र नीच ब्राह्मण। मैत्री तो बराबर वालों मे होती है।"

पतिव्रता ने कहा—"नहीं, महाराज ! आपने तो अनेकों बार मुझसे कहा है कि हम साथ साथ पढते थे, साथ-साथ वन में समिधा कुश तथा फल फूल लेने जाते थे, भगवान मुझसे बडा प्रेम करते थे।"

सूखी हँसी हँसकर सुदामाजी ने कहा—'वे बहुत ...

बालकपन की बातें थीं। उन सब बातों को तो भगवान भूल गये होंगे। कभी-कभी विषम पुरुषों में भी एक-सी स्थिति होने पर मित्रता हो जाती है। जैसे कोई बड़ा आदमी है, उसे कारावास का दण्ड हो गया। किसी साधारण मनुष्य को भी उसी के साथ कारावास में रहना हुआ, तो वहाँ तो दोनों एक सी परिस्थिति में हैं। परस्पर में मित्रता हो जाती है। मनुष्य प्राणी सामाजिक जंतु है, इसे बोलने चालने प्रेम करने तथा लड़ने को साथियों की आवश्यकता होती ही है। कारावास में प्रेम करने को कोई नहीं है, तो उस साधारण पुरुषों से ही प्रेम की घुल-घुलकर बातें करते हैं, उसके साथ ही स्नेह प्रकट करके समय काटते हैं। अवधि समाप्त होने पर जब दोनों छूट जाते हैं और फिर वह साधारण आदमी उस बड़े आदमी के समीप जाता है, तो वह बड़ा आदमी बात भी नहीं करता। कुछ दिनों में भूल भी जाता है। पढ़ते समय बच्चों में मित्रता हो ही जाती है। साथ-साथ यात्रा करने से भी मित्रता होती है। किन्तु इन अवसरों पर की मित्रता स्थाई नहीं होती। जब भगवान् श्यामसुन्दर पढ़ते थे, तभी वे ब्रह्मचारी थे, मैं भी ब्रह्मचारी था। अब वे राजा हो गये हैं, मैं जैसा का तैसा दरिद्र भिखारी ही बना हुआ हूँ। वे तो मुझे अब पहचान भी नहीं सकेंगे।"

सुदामा पत्नी ने कहा—"प्राणनाथ! ये बातें तो साधारण लोगों की हैं। क्या भगवान् अपने भक्तों को भूल सकते हैं? सर्वान्तर्यामी से क्या छिपा है। मित्रता की बात छोड़ भी दी जाय, तो भी आप ब्राह्मण हैं, वे ब्राह्मण भक्त हैं, ब्रह्मण्य हैं। वे भला आप को भूल सकते हैं। वे शरणागत वत्सल हैं, सज्जनों की एकमात्र गति हैं। ओछे आदमी धन पाकर निर्धनों को भूल जाते हैं। भगवान् आपको कभी भी न भूले होंगे।"

सुदामा जी ने कहा—"हाँ, सम्भव है न भूले हों। अच्छा, तुम्हारा पूछने का अभिप्राय क्या है ?"

सकुचाते हुए रुक रुककर अस्पष्ट शब्दों में सती ने कहा—"मेरी प्रार्थना यह है कि आप उनके पास जायँ ?"

चौंककर सुदामा जी ने कहा—"उनके पास किस लिये जाऊँ ?"

सती ने कहा—"इसलिये कि आप ब्राह्मण हैं और यदुनन्दन ब्रह्मण्यदेव हैं। आप कुटुम्ब वाले दीन हैं, वे सबके प्रतिपालक दीनबन्धु हैं। आप दरिद्रता के कारण दुखी हैं वे लक्ष्मीपति हैं, आपको बहुत-सा धन देकर इस दरिद्र के दुःख से छुड़ा देंगे।"

विस्मय प्रकट करते हुए सुदामा बोले—"क्या भगवान् के पास धन माँगने जाऊँ ? प्रिय ! यह कार्य मेरे वश का नहीं। मुझे भूखों मर जाना स्वीकार है, किन्तु धन के लिये भगवान् के समीप न जाऊँगा। अरे, तुच्छ धन की याचना उन अखिल ब्रह्माण्ड-नायक से करूँ ?"

सती ने कहा—"प्रभो ! अपने लिये नहीं, इस बच्चे के लिये। मुझ दासी के लिये। मेरे आग्रह को स्वीकार करो।"

सुदामा जी ने कहा—"बच्चा कल मरता हो, तो आज मर जाय, मैं धन के लिये भगवान् से कुछ न कहूँगा।"

स्त्री ने कहा—"प्रभो ! जब हमारे भाग्य में याचना ही लिखी है तो फिर साधारण आदमियों से याचना क्यों करें। ऐसे से जाकर क्यों न माँगें कि फिर किसी के सम्मुख हाथ ही न फैलाना पड़े।"

सुदामा जी ने कहा—"प्रिये ! तुम्हारा कथन सत्य है। नित्य याचना करके ही हम उदर पूर्ति करते हैं। किन्तु मित्रता में याचना शोभा नहीं देती। जिसको मित्रता निभानी हो उसे इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये, एक तो कभी मित्र से धन की याचना

न करे, एक उसकी स्त्रियों से एकान्त में बातें न करें। ये दो बातें ऐसी हैं कि इनसे कभी न कभी मन मुटाव हो ही जाता है। यहीं जिस किसी प्रकार आधे पेट रहकर दिन काट लेंगे। तुच्छ धन के लिये भगवान् के यहाँ जाना शोभा नहीं देता। फिर उनका पता भी तो नहीं वे कहाँ हैं। वे वर्षों धर्मराज युधिष्ठिर के यहाँ इन्द्रप्रस्थ मे रह आते हैं। कहीं किसी असुर राजा को मारने चले जाते हैं।"

सती ने कहा—"प्राणनाथ! अपना दुःख सुख अपनों ही से तो कहा जाता है। श्यामसुन्दर आपके सुहृद हैं। आपके ही क्या सम्पूर्ण प्राणियो के सुहृद हैं। उनसे की हुई याचना, याचना नहीं कहाती। मैंने अच्छी प्रकार पता लगा लिया है, वे आजकल द्वारका में ही निवास कर रहे हैं। वे समस्त भोज, वृष्णि और अन्धक वंशीय यादवों के अधिपति हैं। वे अपने पादपद्मों के आश्रित जनों के दुःख दूर करने वाले हैं। उनके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। धन तो एक तुच्छ वस्तु है, वे अपने भक्तों के लिये अपने आपको भी दे डालते हैं।"

सुदामा जी ने कहा—"प्रिये! भगवान् के भक्त तो भगवान् के देने पर भी मुक्ति तक को ठुकरा देते हैं और तू मुझे उनके पास धन माँगने को भेज रही है। यह कहाँ की भक्ति है।"

सती ने कहा—"प्रभो! हम धन प्रमाद के लिये या विषय भोगों के लिये तो माँगते नहीं। इस दारिद्र के दुःख से उनका स्मरण भी तो होता नहीं। यद्यपि भगवद्भक्तों को अर्थ, काम आदि विशेष अभीष्ट नहीं, किन्तु धर्मपूर्वक काम और अर्थ का सेवन किया जाय, तो वे सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न होते हैं। जब वे मोक्ष के स्वामी हैं, तो उन्हें धन देना कौन-सी बात है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सुदामा जी की पत्नी ने उनसे बार-बार आग्रह किया, तो सुदामा जी ने सोचा—"जब

इसका इतना आग्रह है, तो लाओ द्वारका हो ही आवें। मैं जाकर उनसे धन तो माँगूगा नहीं फिर भी इसकी बात रह जायगी। मुझे एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि श्याम सुन्दर के दर्शन हो

जायँगे।" यही सब सोचकर द्वारकापुरी जाने का मन में निश्चय करके वे अपनी पत्नी से बोले—"अच्छा बात है, जब तू नहीं

मानती, तो मैं द्वारका चला जाऊँगा, किन्तु शास्त्रकारों का कहना है, राजा के यहाँ, ब्राह्मण के यहाँ, गुरु के यहाँ, वैद्य, ज्योतिषी तथा मित्र के यहाँ रिक्त हस्त न जाना चाहिये। कुछ न कुछ लेकर जाना चाहिये। इसलिये तेरे घर में कुछ उपायन के लिये हो तो दे दे।"

सती ने सोचा—"यह एक नई विपत्ति सिर पर आयी। जैसे तैसे तो उन्हें जाने के लिये उद्यत किया है। यदि कुछ देने को न होगा तो, इन्हें कहने को हो जायगा कि मैं तो जाने को तत्पर ही था, तैंने कुछ उपायन नहीं दिया। रीते हाथों मैं मित्र के यहाँ कैसे जाऊँ।" यह सोचकर वह घबराई, किन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा। उसने कहा—"अच्छी बात है, आप ठहरें, मैं कुछ लाती हूँ।" यह कहकर वह अपनी एक सहेली के समीप गयी और बड़ी दीनता से बोली—"बहिन! तुम सदा मेरी सहायता करती रही हो, आज और कर दो। फिर मैं तुम्हें कभी कष्ट न दूँगी। चार मुंठी चिउरा मुझे दे दो।"

सती के दीन मुख और विनयपूर्ण वचनों को सुनकर उस स्त्री को दया आ गयी। उसने चार मुट्ठी चिउरा ब्राह्मणी को दे दिये। ब्राह्मणी ने लाकर उन्हें भूना, नमक मिलाया और एक अत्यन्त फटे पुराने कपड़े में चारों ओर से लपेटकर गेंद की भाँति सीं दिया। उस पोटली को देते हुए कहा—"देखिये, ये ही चिउरा हमारी भेंट है। आपको देने में लज्जा लगे तो मेरी ओर से देना। कह देना—"तुम्हारी भाभी ने यह भेजा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस चिउरा की पुटली को लेकर सुदामा जी द्वारका की ओर चल दिये। उन्हें अपनी दरिद्रता पर दुःख भी था और भगवान् के दर्शन होंगे इसकी प्रसन्नता थी। मुझे भगवान् के कैसे दर्शन होंगे, यही सोचते सोचते वे आगे

बढे। अब जैसे वे द्वारका पहुँचेंगे, वह कथा प्रसङ्ग में आगे कहूँगा।"

छप्पय

दारिद दुख अति दुसह भयो तब सती सुझायो।
हैं यदुनन्दन सखा देव! बहुबार बतायो॥
क्यों न द्वारकानाथ निकट हे प्रियतम! जावें।
दीन बन्धु ढिँग जाइ दुसह दुख क्यों न सुनावें॥
द्विज बोले—"धन हेतु हरि, ढिँग कबहूँ नहिँ जाउँगो।
बिना अन्न मरि जाउँगो, तऊ न उदर दिखाउँगो॥"

द्वारका की ओर

[११६५]

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन्॥*

(श्री भा० १० स्क० ८० अ० १५ श्लोक)

छप्पय

विविध भाँति समुझाइ द्वारका भेजे द्विजवर।
चूरा मुट्ठी चार माँगि दीये अति सत्वर॥
दाबि बगल महँ भेंट चले द्विज लठिया टेकत।
डगमग-डगमग परैं पैर हाँपत मग देखत॥
तरुतर सोये श्रान्त है, तनु जरजर मग अति विकट।
लाइ सुवाये शक्ति हरि, पुरी द्वारका के निकट॥

यह जीवन क्या है, आशा निराशा का द्वंद युद्ध है। जो काम हम नहीं करना चाहते, वही किसी विवशता से करना पड़ता है। जिस काम को करना चाहते हैं प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उसे कर नहीं सकते। किसी से बहुत आशा करते हैं, उससे निराश होना पड़ता है, जहाँ से निराश हो चुके हैं, वहाँ काम बन जाता

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पत्नी के दिये हुए चिउराओं को लेकर विप्रवर सुदामाजी द्वारका की ओर चले। वे मन ही मन यह सोचते जाते थे, कि मुझे भगवान् के दर्शन कैसे होंगे?"

है। यह द्वन्द निर्धनों के ही हृदय में उठता हो, सो भी बात नहीं निर्धन हो धनी हो, पडित हो मूर्ख हो छोटा हो बडा हो सबके ही हृदय में द्वन्द होता रहता है। इस द्वद में एक ही बडा लाभ है, वह है मित्रों के दर्शन। यदि ससार मे कोई सच्चा मित्र मिल जाय, तो यह नीरस ससार भी सरस बन जाय, किन्तु इस जगत मे सच्चे सुहृद, निस्वार्थ प्रेमी मिलते नहीं जो प्रेम के ही लिये प्रेम करें। किसी हेतु से स्वार्थवश प्रेम करने वाले प्रेमी नहीं, वे तो व्यापारी हैं मिथ्या प्रेम प्रदर्शित करके ससारी मिथ्या पदार्थों को वे चाहते हैं। निस्वार्थ सच्चे प्रेमी के तो स्मरण मात्र से रोमाञ्च हो उठते हैं। जिसके चित्त मे मित्र की मूर्ति बस गयी है, उसका चित्त चचल या दुखी केसे हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सुदामा जी की पत्नी ने उनसे बार-बार द्वारका जाने का आग्रह किया, तो वे बगल मे चिउरों की छोटी सी पुटली को दबाकर द्वारका की ओर चले। मैली पगडी जो उनके पिता के सामने की थी वह उन्होंने सिर पर लपेट ली। फटी पुरानी अँगरखी, जिसकी तनियाँ भी टूटी हुई थीं वह उन्होंने शरीर में पहिन ली। हाथ मे सटकिया और कन्धे पर डोर लुटिया डालकर वे यात्रा के लिये चल दिये। द्वार तक उनकी पत्नी आयी। उसने द्वार पर आकर देवी देवताओं से अपने पति की मङ्गल कामना के निमित्त प्रार्थना की। भगवान् से मनाया कि मेरे प्राणनाथ को मार्ग में कोई कष्ट न हो, उनकी यात्रा सुखप्रद हो। इस प्रकार अपने पति को विदा करके सती तो घर में लौट आयी और सुदामा जी द्वारका की ओर चल दिये।

एक तो कृश शरीर, वृद्धावस्था तिस पर भी कई दिनों से उन्होंने खाया नहीं था। वे लठिया टेकते टेकते चलते थे, चलने में उनके पैर लडखडाते थे। हृदय में द्वद युद्ध हो रहा था। मनुष्य

जिस काम में मन से प्रवृत्त हो जाता है, फिर उसी के सम्बन्ध में सोचता रहता है। उसी बात की ऊहापोह करता रहता है। सुदामा जी भगवान् की मैत्री को भूल गये हों, सो बात नहीं। उन्हें भगवान् की एक-एक बात स्मरण थी, वे एकान्त में बैठकर भगवान् की मन मोहिनी मूरति का ही चिन्तन करते रहते। वाणी में उनके ही नामों का भुवनमोहन गुणों का गान करते रहते। हृदय में उनके दर्शनों की बारम्बार लालसा उठती, किन्तु अपनी स्थिति सोचकर रुक जाते। इस मलिन वेष से फटे पुराने वस्त्रों से मैं भगवान् के यहाँ चलूँगा तो सब मेरी हँसी उड़ावेंगे। भगवान् को भी संकोच हो सकता है। जो सेवक स्वामी को संकोच में डालता है, वह सच्चा सेवक नहीं है। मेरे कारण भगवान् की ही हँसी उनके मुँह लगी पत्नियाँ करें तो यह बड़े दुःख की बात होगी। मन से तो मैं सदा उनसे मिला ही रहता हूँ। हृदय कमल में स्थित उनकी मनोहर मूर्ति का तो निरन्तर दर्शन करता ही हूँ, इस दरिद्र वेष से द्वारकाधीश के यहाँ जाना उपयुक्त नहीं।" यही सब सोचकर वे रह जाते, कभी द्वारका जाने का नाम भी न लेते।

जब पत्नी ने उन्हें बहुत ही विवश किया तो उन्होंने सोचा—"जिस के साथ जीवन काटना है, उसकी बात अपने अनुकूल न भी हो, तो भी उसे मान लेना चाहिए। पति यदि पत्नी की बात मानकर उसकी इच्छानुसार काम कर देता है, तो उसका प्रेम और अधिक बढ़ जाता है, उसे गर्व हो जाता है मेरे पति मेरी बात मानते हैं। इसलिये इसकी बात मानकर द्वारका चला तो जाऊँ, किन्तु भगवान् से मैं धन की याचना न करूँगा। यह तो स्त्री है व्यवहार की बातों को समझती नहीं। भला, कहीं मित्र से धन माँगा जाता है। अत्यधम पुरुष धन के लोभ से मित्रों से मिलते हैं। मनस्वी पुरुष एक बार आपत्ति विपत्ति पड़ने पर

अपरिचितों से याचना भले ही करले किन्तु परिचितों के सम्मुख हाथ फैलाने का उसका साहस नहीं होता। मान अपमान की रक्षा तो परिचितों में ही की जाती है। जहाँ हमारा परिचय नहीं, वहाँ कोई हमें पीट भी दे, तो भी कोई बात नहीं, किन्तु परिचित कोई कड़ी बात कह दे, तो उसमें भी अपना बड़ा अपमान प्रतीत होता है। सुख दुख तो भाग्यवश मिलता है। भगवान् तो घट-घट की जानने वाले हैं। उनके छिपा ही क्या है। स्त्री का आग्रह द्वारका जाने का है, सो द्वारका में जा ही रहा हूँ। आज मेरी बहुत दिनों की लालसा पूरी होगी। आज उन सच्चिदानन्दघन विग्रह के दर्शनों से अपने को कृतार्थ करूँगा।

फिर सोचने लगे—"मुझे भगवान् के दर्शन होंगे भी या नहीं। वे तो राजाधिराज हैं, महलों मे रहते होंगे। पहरे लगते होंगे, कौन मुझ दरिद्र को उनके समीप जाने देगा। द्वारपाल मेरा वेष देखकर ही रोक लेंगे। अच्छी बात है रोक लें। मैं द्वार पर बैठा रहूँगा, कभी तो वे महलों से निकलते होंगे। उसी समय उनसे भेंट कर लूँगा। वे मुझे पहिचान तो जायँगे ही किन्तु बात बहुत पुरानी हो गयी है, संभव है भूल गये हों। भूल गये होंगे तो मैं याद दिला दूँगा।"

इस प्रकार मनोरथ करते हुए वे सटकिया टेकते-टेकते आगे बढ़े। नगर से कुछ ही दूर चलकर वे थक गये। अब उनमें चलने की शक्ति नहीं रही। सती ने कुछ चबैना इन्हें भी दे दिया था, कि मार्ग में इसे चबाकर पानी पीलें। सुदामा जी ने देखा आगे मार्ग में एक बड़ा सुन्दर शिवालय बना है। सघन वट की छाया है, सुन्दर पक्का कूप है। अभी वे नगर से एक कोस भी नहीं आये थे। तो भी उन्हें ऐसा लगा मानों मैं बहुत मार्ग पार कर आया हूँ। चलते-चलते उन्हें प्यास लगी। कंधे से लुटिया डोरी उतारी डोर को खोलकर लुटिया को फांसे से कस कर

उन्होंने कूए में फाँसा, पानी खींच कर हाथ पैर धोए, कुल्ला किये फिर लोटे को माँजा पानी खींच कर एक ओर बैठ गये। कपड़े

की गाँठ में कुछ चबैना बँधा था, उसे खोलकर चबाया, ऊपर से एक लोटा जल पिया। मार्ग में चलने से वे श्रमित हो गये थे।

वट के नीचे पड़ गये। पड़ते ही उन्हें निन्द्रा आ गयी और सो गये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब तक जीव भगवान् की ओर बढ़ता नहीं है, तभी तक उसे दुःख होता है। जहाँ उसने भगवान् की ओर पैर बढ़ाया कि उसके सब दुःख शोक नष्ट हो जाते हैं। भगवान् को स्वयं ही उसके योग-क्षेम की चिन्ता हो जाती है। भगवान् ने देखा सुदामा मेरे समीप आना चाहता है, वह मुझसे मिलने चल दिया, यदि ऐसे ही एक-एक कोस चलेगा, तो न जाने कब तक मेरे समीप पहुँच सकेगा। अब अपने भक्त को किसी प्रकार का कष्ट न हो। जो एक पग मेरी ओर बढ़ता है, उसे मैं निन्यानबे पग बढ़कर अपना लेता हूँ। यही सोचकर भगवान् ने योग माया को बुलाकर आज्ञा दी—"मेरे भक्त सुदामा को ज्यों का त्यों उठाकर द्वारका के उपवन में सुला दो।" भगवान् की आज्ञा पाकर योग माया एक क्षण मे सुदामाजी को उठा लायी। उसने भगवान् के महलो के सम्मुख जो बड़ा सुन्दर उपवन था, उसी मे लाकर हरी-हरी दूब पर उन्हें सुला दिया। कुछ काल में जब उनकी आँखें खुलीं, तो वे भौंचक्के से रह गये। आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखने लगे, सुवर्ण के बने हुए सहस्रों महल खड़े हैं। वन, उपवन, सरोवर तथा आरामों से यह स्थान घिरा हुआ है। चारों ओर दिव्य सुगन्धि फैली हुई है। सुदामा जी ने पास मे काम करने वाले मालियों से पूछा—"क्यों भाई! यह कौन-सी नगरी है? यहाँ से द्वारका जी कितनी दूर हैं?"

मालियों ने हँसते हुए कहा—"महाराज! कहीं गहरी भाँग छानकर आये हो क्या? द्वारका मे बैठे हो, और द्वारका की बात पूछ रहे हो?"

चौंक कर सुदामा जी ने कहा—"अरे, हैं, यह क्या? मैं

द्वारका में आ गया ? कैसे आ गया ? सोते-सोते ही आ गया। बड़ा आश्चर्य है। भैया, यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र का घर कहाँ है, इन इतने ऊँचे ऊँचे घरों में मुझे श्रीकृष्ण का घर कौन बतावेगा ?"

हँस कर मालियों ने कहा—"महाराज ! जान पड़ता है, आप पहिले ही पहिल आये हैं। ये सब के सब घर श्रीकृष्णचन्द्र के हैं उनके सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ हैं।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए सुदामा बोले—"अरे, बप्पारे बप्पा ! सोलह सहस्र रानियाँ ! मेरे घर में तो एक ही ब्राह्मणी है। अब इन सोलह सहस्र महलों में कृष्ण को कहाँ खोजूँगा। मैं तो जाते जाते थक जाऊँगा।"

मालियों ने कहा—'महाराज ! आपको खोजने की आवश्यकता नहीं यह जा सामने का महल है, यह सबसे बड़ी महारानी रुक्मिणी जी का ही निवास स्थान है। आप इसमें चले जायँ। वहीं आप को भगवान् के दर्शन हो जायँगे।"

सुदामा जी ने सरलता के साथ कहा—"भैया ! इसमें मुझे भीतर कौन जाने देगा। मुझे तो यहीं से दीख रहे हैं, बड़ी-बड़ी संगीनों वाले पहरे वाले इधर से उधर घूम रहे हैं।

मालियों ने कहा—"महाराज ! ब्राह्मणों के लिये जाने की मनाही नहीं है। आप निर्भय होकर भीतर चले जायँ।"

यह सुनकर ब्राह्मण को कुछ कुछ धैर्य हुआ। वे अपनी सट किया को टेकते-टेकते आगे बढ़े। भगवान् के यहाँ सात ड्योढ़ियाँ लगती थीं। पहिली तीन ड्योढ़ियों में तो शस्त्र सैनिकों की छावनियाँ पड़ी रहती थीं। भीतर की तीन ड्योढ़ियों में हाथ में बेत लिये हुए केवल दौवारिक रहते थे। सशस्त्र सैनिक अस्त्र-शस्त्र और वस्त्रों से सुसज्जित इधर-उधर घूम रहे थे। सुदामा जी का हृदय धक धक कर रहा था। वे सोच रहे थे—मेरी स्त्री ने मुझे व्यर्थ झंझट में फँसा दिया। बताओ यहाँ इतनी भीड़ भाड़ में मुझे

कौन पूछ सकता है। ये कितने सैनिक एक से वस्त्र पहिने हुए घूम रहे हैं। ये मुझे भीतर क्यों जाने देंगे।" यह सोचकर वे द्वार पर बैठ गये। इतने में ही उन्होंने देखा तिलक छापे लगाये पीताम्बर ओढ़े बहुत से ब्राह्मण भीतर जा रहे हैं। उनको सैनिक रोकते नहीं। वे सब बिना रोक टोक के जा रहे हैं। तब उन्हें विश्वास हो गया कि यहाँ ब्राह्मणों की रोक टोक नहीं है। कुछ समय के पश्चात् फिर एक ब्राह्मणों का दल आया। अब के उन सबके साथ सुदामा जी भी भीतर घुस गये। वे ब्राह्मणों के बीच में इस प्रकार जा रहे थे, कि कोई उन्हें देख न ले। तीनों सैनिक पहरे वाली ड्योढ़ियों को वे ब्राह्मणों के साथ पार कर गये। फिर तीन बिना शस्त्र के पहरेदारों की ड्योढ़ियों को भी वे पार कर गये। छटी ड्योढ़ी पर जाकर सब ब्राह्मण रुक गये। दानाध्यक्ष सबको दान दे रहा था। जो जिस वस्तु की याचना करता उसे वही वस्तु दी जाती।

सुदामा जी चुप चाप खड़े थे। प्रधान प्रहरी ने सुदामा जी से पूछा—"कहिये, महाराज! आप क्या चाहते हैं?"

सुदामाजी ने कहा—"मैं तो श्रीकृष्णचन्द्र से मिलना चाहता हूँ।"

प्रधान प्रहरी ने पूछा—"उनसे मिलकर आप क्या कीजियेगा। जो आज्ञा हो, हमसे कहें। जिस वस्तु की आप इच्छा, करेंगे उसे हम दे देंगे।"

सुदामा जी ने कहा—"मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। श्रीकृष्ण मेरे मित्र हैं सगे सम्बन्धी है, मैं उनसे भेंट करने ही आया हूँ।"

चौंककर प्रधान प्रहरी ने पूछा—"भगवान आपके मित्र हैं? उनसे आपकी कब मित्रता हुई। उनसे आपका क्या सम्बन्ध है? वे आपके क्या लगते हैं।"

सुदामा जी ने कहा—"हम और वे साथ-साथ अवन्ती

नगरी में पड़े हैं, तब की तो हमारी उनकी मित्रता है, और सम्बन्ध में वे हमारे साढ़ू लगते हैं। उनकी बड़ी साली का हमारे साथ विवाह हुआ।"

यह सुनकर सब लोग हँसने लगे। सब ने पूछा—"महाराज आपकी धर्मपत्नी किस राजा की पुत्री हैं। भगवान् की तो सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ हैं। उनकी किस पत्नी की बहिन के साथ आपका विवाह हुआ है ?"

सुदामा जी ने कहा—"मेरी पत्नी जल निधि समुद्र की बड़ी पुत्री दरिद्रता है और उसकी छोटी बहिन लक्ष्मी के पति द्वारका नाथ हैं, तो हमारे साढ़ू हुए या नहीं ?"

यह सुनकर सब खिल खिलाकर हँस पड़े। कुछ लोग कह रहे थे, इन्हे भगवान के पास जाने दो, अत्यंत ही दीन हीन हैं। कुछ लोग कह रहे थे—"कुछ याचना ही करने आये होंगे। ब्राह्मण को ब्रह्माजी ने याचना के ही लिये बनाया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान का महान् ऐश्वर्य देखकर सुदामा जी को बडा कौतूहल हो रहा था, भगवान से मिलने की उनकी उत्कण्ठा पल-पल पर बढ़ रही थी। अब जिस प्रकार भगवन् की और सुदामाजी की भेंट होगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह अत्यंत ही करुणपूर्ण रोमाञ्चकारी प्रसङ्ग है।"

छप्पय

जागे, पूछें कहा द्वारका कृष्ण रहें कित।
भौचक्के से लखें परम निस्मित है इत उत ॥
लोगनि दयो बताइ रुकिमिनी महलनि आये।
द्विजनि सहित द्वै द्वार लाँघि हिय अति हरषाये ॥
मित्र मिलन की चटपटी, लगी सबनि तैं द्विज कहत।
कृष्ण हमारे सखा हैं, हम उनितैं मिलिबो चहत ॥

—*—

श्रीकृष्ण सुदामा सम्मिलन

[११६६]

त विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८० अ० १८ श्लोक)

छप्पय

सब सेवक सुनि हँसहिँ व्यग करि-करि बतरावें ।
भारे भारे विप्र सरल चित बात बतावें ॥
प्रिया सहित प्रभु पलँग पधारे दीठि परी जब ।
दौरे ह्वैकें विकल विसारी तन सुधि बुधि सब ॥
दोउ भुजा पसारिकें, चिपटाये हिय तैं तुरत ।
मित्र मित्र पुनि-पुनि कहत, नेह नीर नयननि बहत ॥

प्रेम मे नियम नहीं रहता, प्रेम मे बडप्पन नहीं रहता, प्रेम मे सकोच नहीं रहता, प्रेम मे भेद भाव नहीं रहता । हम ऐसा करेगे, तो लोग क्या कहेगे, हमारी प्रतिष्ठा मे बट्टा लग जायगा, हमारा प्रभाव घट जायगा । ऐसे विचार प्रेम मे आते ही नहीं । सच्चे प्रेमी को देखकर हृदय अपने आप विवश हो जाता है । बिना,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी दूर से सुदामाजी को देखकर, तुरन्त सभ्रम के साथ अपनी प्रिया के पलंग से उठ पडे और आगे बढकर अत्यत ही हर्ष के साथ उन्हें दोनो भुजाओं से कसकर गले से लगा लिया ।"

प्रयत्न के हृदय, हृदय से सट जाता है। आँखें बहने लगती हैं और शरीर का प्रत्येक रोम खड़ा हो जाता है। अंग अंग में एक प्रकार की विचित्र विस्फूर्ति आ जाती है। हृदय में प्रेम का उफान आने पर मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। चित्त चाहता है प्रेमी को अपने में मिलाकर एक कर लें, द्वैधीभाव रहता ही नहीं। कुछ लोग प्रेम की इन चेष्टाओं को दम्भ से भी करते हैं, किन्तु हार्दिक भावों को हृदय तुरन्त ग्रहण कर लेता है। बनावट अधिक दिन तक नहीं रहती। जिनके हृदय में प्रेम की तरंगें उठती हैं नेह की हिलोरों से जिनका हृदय द्रवीभूत हो गया है। नवनीत की भाँति स्निग्ध और कोमल बन गया है, वे नर नहीं, नरोत्तम हैं, पुरुष नहीं, परमेश्वर हैं। प्रेम ही तो भगवान् का रूप है। प्रेम में और प्रभु में कोई अन्तर नहीं, भेदभाव नहीं, भिन्नता नहीं। हृदय में प्रेम उत्पन्न होते ही हरि दौड़कर उसे हृदय से चिपटा लेते हैं और वे स्वयं भी प्रेमी बनकर नेह का नीर बहाते हैं। प्रेमी को प्रभु अपने में नहीं मिलाते स्वयं उसकी भाँति बनकर उसे अपना लेते हैं। यही उन महतोमहीयान की महत्ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजकर्मचारी कैसे भी सरल और सज्जन क्यों न हों, उनमें प्रायः कुछ न कुछ उद्धतता रहती ही है। इसमें उनका कुछ दोष नहीं। बात यह है, कि उनके पास जो भी आते हैं अर्थी ही आते हैं। अर्थी दूसरों की विवशता की ओर ध्यान नहीं देता। उसे तो अपने काम को सिद्ध करने की चिन्ता रहती है। वह बार-बार एक ही बात को कहता है और समय पड़ने पर ऐसे भाव व्यक्त करता है, कि हमारी उच्च अधिकारियों तक पहुँच है। नित्य सुनते-सुनते कर्मचारी अभ्यस्त हो जाते हैं और उन पर ऐसी बातों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

जब सुदामाजी ने यह कहा—"कि श्रीकृष्ण हमारे मित्र हैं, तो

सभी उनसे अट-सट प्रश्न करने लगे। सरल सीधे ब्राह्मण राज-कर्मचारियों की व्यंग बातों को क्या समझें। वे सरलता से सब बातों का उत्तर देते। लोग उनके सीधेपन पर हँस जाते तथा और भी प्रश्न करते। सीधे-सादे लोगों को बनाने में कुछ लोगों को बड़ा आनन्द आता है विशेषकर चचल प्रकृति के युवक और युवतियों को यदि कहीं कोई सरल सीधा आदमी मिल जाय तो ये उसकी हँसी बहुत उडाते हैं।

सातवीं ड्योढी पर ही भगवान् का अन्त.पुर था। उसमें सर्व-साधारण लोग तो जा ही नहीं सकते थे विश्वास नौकर, उद्धवादि परम विश्वासनीय मन्त्री, साधु ब्राह्मण और रानियाँ इतने ही लोगों का वहाँ प्रवेश था। प्रायः वहाँ ऐसे ही लोग जा सकते थे, जिनके सम्मुख अन्त.पुर की स्त्रियों को परदा न करना पडे। जिनके सम्मुख बिना सकोच के आ जा सके। भगवान् के बैठने का जो भवन था वह उस आँगन से सटा ही हुआ था। बाहर जो दान धर्म, पूजन आदि हो,उसे भगवान् बैठे ही बैठे देख सकते थे।

उस समय भगवान् पलॅग पर विराजमान थे। उस पलग के पाये हाथीदाँत के बने थे। उस पर गुदगुदे गद्दे बिछे थे, उनके ऊपर दुग्ध फेन के समान, शुभ्र शख के समान, बगुलों की परव के समान, हिम की शिला के समान, कुन्द के पुष्पों के समान, शारदीय चन्द्र के समान, कामिनी के मृदुल हास्य के समान तथा पुण्यश्लोकों की सुकीर्ति के समान शुभ्र स्वच्छ वस्त्र बिछे थे। छोटे बडे बहुत से उपबर्हण (तकिये) रखे हुए थे। पलग पर उनकी प्रिया भा बैठी थीं, उनसे कुछ हँसी विनोद की बातें कर रहे थे। सहस्रों दासियाँ सेवा में सलग्न थीं। सहसा लोगों की हँसी सुनकर भगवान् का ध्यान उस ओर गया। उन्होंने सम्मुख अत्यन्त फटे पुराने वस्त्रों को पहिने, लठिया के सहारे खडे अत्यन्त कृशगात्र अपने पुराने सहपाठी तथा मित्र सुदामा

को देखा। उन्हें देखते ही वे आत्मविस्मृत हो गये। वे कब पलंग से कूद पड़े किसी ने देखा ही नहीं। छककर भगवान् भागे, सर्वत्र हल्ला मच गया, कोई समझ ही न सका भगवान् को क्या हो गया है। दास-दासी पीछे दौड़े, इतने में ही भगवान ने अपनी दोनों विशाल भुजाओं के बीच में सुदामाजी को कस ही तो लिया, भगवान का मंगलमय स्पर्श पाकर ब्राह्मण आनन्द में विभोर हो गये। उन्हें आशा नहीं थी, भगवान् से मेरी भेंट हो सकेगी, किन्तु भगवान के इस अगाध प्रेम को देखकर ब्राह्मण आत्मविस्मृत हो गया। उस समय भगवान् की दशा विचित्र हो रही थी। उनके कमल के सदृश बड़े बड़े नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की अविरल धारा बह रही थी, जिससे ब्राह्मण के सभी वस्त्र भीग गये थे। उनका शरीर रोमांचित हो रहा था। वाणी रुद्ध हो गयी थी और वे कसकर अपने प्रिय सखा को हृदय से चिपकाये हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो नेत्रों द्वारा उनके रूप को पी जायँगे। समस्त अंगों को अपने अंगों में एक कर लेंगे।

एक दरिद्र ब्राह्मण के प्रति भगवान के इस अलौकिक, अद्भुत अनिर्वचनीय प्रेम को देखकर, सबके सब अवाक् रह गये। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता था। हल्ला-गुल्ला सुनकर सभी रानियाँ एकत्रित हो गयीं। वे समझ ही न सकीं, कि क्या बात है भगवान् इस दरिद्र ब्राह्मण से मिलकर ऐसे अधीर और आत्मविस्मृत क्यों हो रहे हैं। बड़ी देर तक वे सुदामाजी को अपने हृदय से चिपटाये रहे। सुदामाजी भी अबोध बालक की भाँति भगवान् के हृदय से लगे हुए अश्रुविमोचन कर रहे थे।

कुछ काल में भगवान् को चेत हुआ, वे हाथ पकड़े ही पकड़े सुदामाजी को भीतर ले गये। पलंग पर सिरहाने बिठाकर घर में भीतर गये। आज सेवक, सेविकायें रानियाँ सब अवाक् थीं, भगवान् किसी से कोई वस्तु मँगाते नहीं, स्वयं अपने हाथों सब

वस्तुओं को लाते हैं। वे पूजा के लिये पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, चन्दन, वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा अन्यान्य सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने हाथों से ले आये। सुवर्ण की परात में सोने की भारी से स्वयं ही लोक पावन प्रभु ने ब्राह्मण के पादों का प्रक्षालन किया। अब रुक्मिणीजी से नहीं रहा गया। वे बोलीं—"प्राण-नाथ! आज आपको हो क्या गया है सब पूजा में तो आप मुझे साथ बिठाया करते थे, आज मुझे कैसे भूल गये हो। अकेले ही अकेले पूजन कर रहे हो। यह कहकर उन्होंने सुवर्ण की भारी भगवान् के हाथ से ले ली। वे टोंटीदार भारी से जल डाल रही थीं और भगवान आनन्द में विभोर बने ब्राह्मण के पैरों को धो रहे थे। पैर सूखे साखे थे, वे धूलि में भरे थे, उनमें बहुत सी बिवाइयाँ फटी हुई थीं। भगवान् ने अपने कमल से भी कोमल करों से उन मल से आवृत ब्राह्मण के खुरदरे पैरों को शनैः-शनैः धोया। फिर नूतन अँगोछा से उन्हें पोंछा। उस चरणोदक को बड़े आदर से अपने सिर पर चढ़ाया सम्पूर्ण घरों में छिड़क-वाया। फिर अर्घ्य देकर आचमन कराके विधिवत् उबटन लगा-कर स्नान कराया, नया यज्ञोपवीत नये दो सुन्दर रेशमी वस्त्र उन्हें पहिनाये। सम्पूर्ण शरीर में केशर, कस्तूरी तथा कर्पूर आदि की गन्ध से सुवासित दिव्य गंधमय चन्दन उनके सर्वाङ्गों में लगाया। फिर सुगंधित धूप जलाकर तथा सहस्रों दीपक जलाकर उनका पूजन किया। अतिथि को जिस प्रकार गौ अर्पण की जाती है, उस प्रकार एक कपिला गौ अर्पण की। फिर नैवेद्य, फल अर्पण करके सुन्दर लवँग इलायची तथा कर्पूरयुक्त ताम्बूल उन्हें दिया। बार-बार भगवान् कह रहे थे—"मित्र! भले आये, भले आये! आज मैं आपका पूजन करके कृतार्थ हो गया।"

रुक्मिणीजी ने देखा आज भगवान् मुझसे कुछ भी सेवा लेना नहीं चाहते, तो वे उन मलिनवसन, अत्यन्त दुर्बल कृश,

गात्र विप्र के ऊपर अपने हाथों से चँवर डुलाने लगी। नारायण से दूर रहने पर लक्ष्मी चाहे भले ही रूठी रहे, किन्तु नारायण के निकट आने पर तो वह दासी की भाँति सेवा संलग्न रहती है। अपने आप चँवर डुलाती है, जिसने पति को वश में कर लिया है, उसकी पत्नी तो अपने आप सेवा किया ही करती है।

अन्तःपुर के तथा बाहर जितने ब्राह्मण आदि वहाँ समुपस्थित थे, वे सब पुण्य कीर्ति भगवान् श्याम सुन्दर को एक भिक्षुक ब्राह्मण की इस भाँति अत्यन्त अनुराग और तन्मयता के साथ पूजा करते देखकर, परस्पर में कह रहे थे—"अहो ! यह कितने आश्चर्य की बात है, साक्षात् श्रीपति इस श्रीहीन, निर्धन, लोक-निन्दित, सभ्य समाज द्वारा तिरस्कृत अधम भिक्षुक ब्राह्मण की इतनी तन्मयता से पूजा कर रहे हैं। भगवान् के हृदय का प्रेम समाता नहीं वे अपने आपे को भूले हुए हैं। इसने पूर्व जन्मों में ऐसा कौन-सा महान् पुण्य अद्भुत वस्तु का दान किया है, जिस से साक्षात् लक्ष्मी जी के आश्रय स्थान जगद्गुरु भगवान् वासुदेव अपने पलङ्ग पर विराजमान कमलारूप रुक्मिणीजी का परित्याग करके ज्येष्ठ बन्धु की भाँति दौड़कर इसे हृदय से चिपटाया। ज्येष्ठ बन्धु से भी बढ़कर आदर किया।

रानियाँ चित्र लिखी मूर्तियों के समान खड़ीं थीं। सेवक अवाक् थे। भगवान् का कण्ठ अवरुद्ध था। सुदामा जी कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कुछ कहने का उनका साहस ही न होता था। भगवान ने चरण धोये उन्होंने कुछ आपत्ति नहीं की, स्नान कराया कर लिया, चन्दन लगाया लगवा लिया। वस्त्र उढ़ाये ओढ़ लिये। आरती उतारी, चुपचाप बैठे रहे। ऐसा लगता था मानों वे निर्जीव मूर्ति हैं। पूजा करने के अनन्तर ब्रह्मण्यदेव भगवान ने भूमि में लोटकर सुदामा जी को प्रणाम किया। फिर सभी ने भगवान् का अनुकरण किया। सब के प्रणाम करने पर

भगवान् ने कहा—"भया! चलो, भोजन करें।" यह कहकर भगवान् स्वय हाथ पकडकर भीतर महलो में ले गये। रानिया न खट्टी, मीठी, चरपरी तथा नमकीन वस्तुएँ बनाकर बडे प्रेम और अनुराग के साथ भोजन कराया। इतने दिव्य पदार्थों को देखकर ब्राह्मण के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अमृतोपम भोजन को पाकर ब्राह्मण के रोम-रोम खिल उठे। भोजन कराने के अनन्तर मुखशुद्धि दी। तब भगवान् उन्हे अत्यन्त स्नेह से अपनी बठक म ले गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब दोनो भोजनादि से निवृत्त हो गये, तो दोनो में फिर प्रेम की मीठी-मीठी बातें छिड़ीं। दोनो मित्रो म जो रसीली, रँगीली, आनन्ददायिनी बातें हुईं, उनका वर्णन में आगे करूँगा।"

छप्पय

स्वयं पकरि यदुनाथ पलङ्ग पै विप्र बिठाये।
पूजा को समार स्वयं कर कमलनि लाये॥
करि पूजन सम्मान स्वादु भोजन करवाये।
करें प्रेम अति अधिक सुदामा बहु सकुचाये॥
नेह सहित बैठाइ ढिँग, पुनि पुनि पूछत कुशल हरि।
कहो, लौट गुरु सदन तैं, गृही बने नहिँ ब्याह करि॥

सुदामा और श्यामसुन्दर की बातें

[११६७]

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात् ।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८० अ० २८ श्लोक)

छप्पय

भाभी कैसी मिली, मिले मन तुमरो वा ते।
लडति भिडति तो नाहिँ कान तो करे न ताते॥
कितने बालक भये सबनिके नाम बताओ।
सब घर को वृत्तान्त सुनाओ मति सकुचाओ॥
गुरुकुल के सुसमय दिवस, हाय! स्वपन सम अब भये।
वा दिनकी कछु यादि है, ईंधन लैवे वन गये॥

संसार में वैसे तो सभी सगे सम्बन्धी तथा प्रिय जनों के मिलने से प्रसन्नता होती है, किन्तु जो लँगोटिया मित्र हैं, जिनके साथ अतीत की अनन्त स्मृतियाँ जुडी हुई हैं, वे अपने प्रेमी बाल

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सुदामाजी का स्वागत सम्मान करने के अनन्तर भगवान् उनसे पूछने लगे—"हे ब्रह्मन् ! हे धर्मज्ञ ! जब आप गुरु दक्षिणा देकर अध्ययन समाप्त करके घर लौट आये, तब आपने किसी अपने मन के अनुकूल योग्या स्त्री से विवाह किया या नहीं ?"

सखा मिल जायँ, तब तो कहना ही क्या ? उनके मिलने पर प्रसन्नता साकार रूप रखकर सम्मुख आ जाती है। दोनों मिलकर परस्पर में एक दूसरे के हृदय को टटोलते हैं, दुःख सुख की बातें करते हैं और अतीत की घटनाओं को स्मरण करके प्रमुदित होते हैं। जीवन में सुख दुख घटनाओं के समय नहीं होता। घटनाएँ तो सहसा आती हैं घटकर अनन्त के गर्भ में विलीन हो जाती हैं, सुख दुःख जो भी होता है, उनकी स्मृतियों में होता है। जीवन के साथ अनन्त घटनाओं की स्मृतियों की पुटली न हो, तो जीवन शून्य बन जाय। फिर उसमें न तो स्फूर्ति आवे न उत्साह तथा आमोद-प्रमोद का ही प्रादुर्भाव हो। जड के सदृश हो जायँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भोजनोपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र अपने बालसखा सुदामा को प्रेमपूर्वक हाथ पकडकर अपने निजी भवन मे ले गये। दोनों एक ही आसन पर सुख से बैठे। दोनो का अग परस्पर में सटा था। सुदामा मौन थे। हमारे इन चचल शिरोमणि श्यामसुन्दर का मुखारविन्द प्रेम के कारण चमक रहा था। इन्होंने बात-चीत छेडी। हँसते हुए बोले—"कहो भैया ! अब अपने समाचार सुनाओ, अच्छे रहे न ?"

सुदामाजी ने कहा—"हाँ भैया ! समय को धक्का दे रहे हैं, दिन काट रहे हैं।"

भगवान् बोले—"अच्छा, यह बताओ ! हमारा तुम्हारा समावर्तन सस्कार तो साथ ही साथ हुआ। साथ ही साथ गुरुकुल से से गुरुजी को दक्षिणा देकर—अध्ययन समाप्त करके लौटे थे। तब से तुमने क्या-क्या किया ?"

सुदामाजी ने कहा—"किया क्या भगवन् ! इस पापी पेट को भरा और सोकर समय खोया।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! खाना सोना तो सभी के साथ लगा है। शास्त्रकारों का कहना है, द्विज को कभी एक क्षण के

लिये भी अनाश्रमी न रहना चाहिये। ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके अपने अनुरूप सुन्दर लक्षणों वाली कन्या के साथ विवाह करके गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिये। आप यह बताइये कि आपने किसी ब्राह्मण कन्या के साथ विवाह तो कर लिया है न? या वैसे ही ठंठनपाल मदनगुपाल बने हो। हम तो आपको बालकपन से ही देखते थे, आपकी गृहस्थ की ओर आरम्भ से ही प्रवृत्ति नहीं थी। जैसे आप पहिले थे, वैसे ही निस्पृह अब भी बने हैं। आपके वेप-भूषा से ही विदित होता है, कि आपने धन आदि संग्रह तो किया ही नहीं। विवाह किया कि नहीं। मुझे तो भैया, विवाह की ही चिन्ता है देखो, मैंने सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाह किये हैं? क्योंकि गृहस्थ धर्म सबसे श्रेष्ठ है,ये जितने जटाधारी, लटाधारी, फलाहारी, त्यागी, विरागी, संन्यासी, ब्रह्मचारी, आचारी तथा अन्यान्य भिक्षोपजीवी है, सब गृहस्थ के ही आश्रय से टिके हुए हैं। इन सबके भरण-पोषण का भार गृहस्थी के ही ऊपर है। इसीलिये गृहस्थ धर्म की इतनी प्रशंसा है।"

सुदामाजी ने कहा—"अजी, महाराज! गृहस्थधर्म का पालन हम जैसे दरिद्रो से कहाँ होता है। कूकर सूकरो की भाँति आहार, निद्रा, भय मैथुनादि में फँसे रहकर दिन काट रहे हैं, घर में एक ब्राह्मणी है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, बताइये भाभी का स्वभाव कैसा है? आपसे लड़ाई-भिड़ाई तो नहीं करती। ब्रह्मन् घर में अच्छे स्वभाव की स्त्री हो, तो धन आदि कुछ भी न रहने पर सब कुछ हैं यदि स्त्री कर्कशा हुई, बात-बात मे क्रोध करने वाली, मुँह फुलाने वाली, डाँटने डपटने वाली हुई तो सब कुछ रहते हुए भी कुछ नहीं है, पृथ्वी पर ही नरक का दुःख है। भाभी लड़ती झगड़ती तो नहीं, तुम्हारे कान गरम तो नहीं करती? प्रेमपूर्वक सेवा तो करती है।"

यह सुनकर सुदामाजी कुछ हँस गये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। रुक्मिणीजी सब सुन रही थी, वे वहाँ से बोलीं—"तुम्हारे किसी ने कान गरम किये होंगे, तभी तुम्हें पता है।"

हँसकर भगवान् बोले—"भैया! मैं अपनी विपत्ति की बात बताऊँ, तो यहाँ अभी महाभारत हो जाय। मेरा दुःख मै ही जानता हूँ कभी कोई मुँह फुला लेती है, कभी कोई खटपाटी लेकर पड जाती है। कभी कोई मणि माँगती है, कोई कहती है हमे स्वर्ग से पारिजात ला दो। इन्हीं झंझटो में मैं तो फँसा रहता हूँ। भाभी तो तुमसे 'यह ला, वह ला' ऐसी बातें न कहती होगी। भैया, यह स्त्री रूपी माया ऐसी प्रबल है कि इसके चक्कर में फँसकर मनुष्य सब कुछ भूल जाता है। गर्भ में की हुई प्रतिज्ञा, यहाँ की सब प्रतिज्ञाओं को भूलकर इनका दास बन जाता है। यह गुणमयी माया ऐसी दुस्त्यज है, कि बडे-बडे ज्ञानी भी इसके मोह को नहीं छोड सकते। कोई ऐसे विरले ही महापुरुष होते हैं, जो ईश्वर की माया से निर्मित इन विषय वासनाओं का परित्याग कर सकें। ऐसे वीतराग पुरुषों के लिये विवाह की कोई आवश्यकता भी नहीं। अब देखो, हम तो जान बूझकर इन स्त्रियों मे फँस गये। ये सब हमें अपना क्रीड़ामृग बनाये हुए हैं।"

यह सुनकर रुक्मिणीजी ने कहा—"जेठजी! आप इनकी बातो का विश्वास न करें, ये बडे कपटी हैं, ऊपर से दिखाने को तो ऐसी चिकनी चुपडी रँगीली रसीली बातें करते हैं मानो ये हमारे आधीन ही हो गये हैं, किन्तु इन्हें तनिक भी मोह ममता नहीं। स्नेह करना तो ये जानते ही नहीं बडे निष्ठुर हैं। ये ही सबकी नाकों में नकेल डालकर नचा रहे हैं और नाम हमारा लगा रहे हैं।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"देख लो, भैया! तुम्हारे मुँह पर ही मुझे खरी-खोटी सुना रही है। बात यह है कि हम तुम कोई

विषयों में आसक्त थोड़े ही हैं। हम सब तो केवल लोकसंग्रह के निमित्त करते हैं।"

रुक्मिणी ने कहा—"तुम लोकसंग्रह के लिये सब खेल करते हो, और हमें दुख देते हो। किसी का खेल हो, किसी का हृदय जले और उलटे हमें ही कलंक लगाते हो।"

भगवान् ने प्रेम के रोष में कहा—"हम अपने मित्र से बातें कर रहे हैं, तुम बीच में क्यों बोलती हो? जहाँ दो बातें कर रहे हों वहाँ तीसरे को न बोलना चाहिये।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"मैं बोलूँगी और अवश्य बोलूँगी। जेठजी से आप हमारी बुराई क्यों कर रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, भैया! छोड़ो इन लुगाइयों की बातों को, अपने गुरुजी की बात करो। हाँ, अच्छा उस दिन की तुम्हें याद है?"

सुदामाजी ने कहा—"किस दिन की महाराज!"

भगवान् बोले—"उसी दिन की जिस दिन गुरुजी के यहाँ ईंधन नहीं था। गुरुआनी माताजी ने हमें कितने प्यार से बुलाकर कहा था बेटाओ! शाम के लिये घर में ईंधन तनिक भी नहीं है।"

हम दोनों ने कहा था—"माताजी! आप चिन्ता न करें, हम अभी ईंधन लेने जाते हैं और लेकर अति शीघ्र आते हैं।"

यह कहकर हम दोनों चल दिये। सहसा वर्षाऋतु न होने पर भी बादल घिर आये। कुछ देर बूँदा-बाँदी हुई, फिर मूसलाधार जल गिरने लगा। हम एक सघन वन में वर्षा के कारण घिर गये थे। वर्षा कहती थी, मैं आज ही सब बरसूँगी। आँधी कहती थी, मैं आज ही सम्पूर्ण वेग के साथ चलूँगी। प्रचण्ड पवन के सहित घनघोर वर्षा हो रही थी। तड-तड करके बादल गरज रहे थे। कड़-कड़ करके बिजली चमक रही थी। वर्षा और वायु के

भय से भगवान भुवन भास्कर अस्ताचल की ओर भागकर छिप गये थे। दसो दिशाओं ने तमोमय पट ओढ लिया था। सर्वत्र अन्धकार का साम्राज्य था। पृथ्वी जल के नीचे दब गयी थी। चारो ओर जल ही जल भर गया था। कहाँ ऊँचा है कहाँ गड्ढा है तथा कहाँ सम है, इसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो असमय में प्रलय हो जायगी। हम दोनों अत्यत वर्षा तथा प्रचण्ड पवन के कारण परम पीडित हो रहे थे। जाडे के कारण हम दोनों अचेत हुए एक दूसरे को कसकर पकडे हुए थे। दिशा विदिशाओं का ज्ञान न होने से इधर से उधर मारे-मारे भटक रहे थे, इसी प्रकार हम दोनो ने पूरी रात्रि बिता दी। प्रात - काल पता पाकर हमारे पूजनीय गुरुजी स्नेहवश हमें खोजते-खोजते उसी सघन वन में आये। और हमें शीत से अत्यन्त व्याकुल देखकर वे अधीर हो उठे थे। हम दोनों को उन्होंने कितने प्यार से छाती से चिपटा लिया था, हमारे सिरो पर हाथ फेरते हुए वे अत्यन्त स्नेह के साथ कहने लगे – "बेटाओ! तुमने हमारे लिये बडा कष्ट सहा। देखो, धन दे देना, विद्या दे देना ये कोई बडी बातें नहीं हैं। सबसे बडी बात है सेवा। जो अपने शरीर को होम कर सेवा करता है, वही सबसे बडा दाता है। कैसा भी दुखी, सुखी, छोटा बडा प्राणी हो, अपना शरीर सबको प्यारा लगता है। कितना भी रुग्ण आतुर मनुष्य क्यों न हो वह मरना नहीं चाहता। प्राणों की रक्षा सभी प्राणी चाहते हैं। उन्हीं प्राणों को कुछ भी न समझकर तुमने हमारी सेवा की, यह सबसे बडी बात है। सत्शिष्यों का यही एकमात्र प्रधान कर्तव्य है, कि अपने शरीर को ज्ञानदाता गुरु की सेवा में लगा दें। गुरु सेवा से बढकर दूसरी कोई भी सर्वोत्तम दक्षिणा नहीं। जिससे गुरुदेव प्रसन्न हो सकें। तुमने आज मुझे अपने इस कृत्य से अपने वश में कर लिया, मैं तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हें

आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी समस्त कामनायें पूर्ण हों, तुम्हारी विद्या इहलोक में तथा परलोक में कभी भी निष्फल न हो।"

सुदामाजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! वह घटना कभी जीवन में भूलने की थोड़े ही है।"

भगवान् बोले—"देखो, सुदामाजी ! हमारी गुरु माताजी। कैसी अच्छी थीं हमें कैसा प्यार करती थीं। वे जानती थीं मुझे मूँग की पकौड़ी अच्छी लगती हैं, इसलिये प्रायः नित्य ही बनाती थीं। उनके हाथ के कढ़ी भात में कितना स्वाद होता था कितने प्रेम से वे हमे भोजन कराती थीं। इतनी चिन्ता सगी माता भी नहीं कर सकती। उस दिन उनकी प्यारी कपिला गौ खो गयी थी, दो दिन वे कितनी व्याकुल रहीं। तीसरे दिन जब हमने ढूँढ़कर ला दी, तो वे हमसे कितनी प्रसन्न हुईं। हमें कितना प्यार किया। उस दिन सत्तू फाँकते-फाँकते मैं हँस पड़ा सत्तू सब मुख से निकल गये। वे कितने प्यार से बोलीं—"अरे, तुम बड़े पगले हो रे।"

हमारे गुरुजी कैसे अच्छे थे उस दिन यज्ञदत्त क्रोधित होकर वन में चला गया था। गुरुजी ने उस दिन भोजन भी नहीं किया। गुरुकुल में रहते समय कितनी घटनायें घटित हुयीं, उनको स्मरण कर-करके हृदय भर आता है। उन दयालु सान्दीपिनी गुरु की मनमोहिनी मूर्ति अभी तक हमारे नयनों के सम्मुख नाचती रहती है। गुरुकुल का जीवन कितना सुखप्रद था, तब न कोई चिन्ता थी न दुःख। स्वच्छन्द होकर घूमते थे। कच्चे-पक्के जैसे भी फल मिल जाते खा लेते थे। द्विजातियों के लिये गुरुकुल वास ही ज्ञानार्जन के लिये सर्वप्रथम मुख्य कर्तव्य है। गुरुकुल में रह कर विद्यार्थी सभी ज्ञातव्य बातों को जान जाता है। ज्ञानार्जन करके अज्ञानान्धकार को पार कर जाता है। वही व्यक्ति सत्कर्मों को कर सकता है, जिसने गुरुकुल में वास करके गुरुदेव की श्रद्धा

सहित सुश्रूषा की हो। गुरु साक्षात् परब्रह्म है, वे मेरा ही स्वरूप हैं। जो वर्णाश्रमी हरि रूप गुरु का आश्रय ग्रहण करते हैं, उनसे सदुपदेश ग्रहण करते हैं, तो उस उपदेश द्वारा ही अत्यन्त सरलता के साथ इस ससार रूपी सागर को बात की बात मे पार कर जाते हैं। उन्होंने ही जीवन की सार्थकता की है। उन्होंने मनुष्य देह का सच्चा स्वार्थ समझा है। सर्वभूतो का अन्तरात्मा रूप मैं, जिस प्रकार गुरु सुश्रूषा से प्रसन्न होता हूँ, उस प्रकार यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, शम, दम तथा अन्यान्य किसी भी साधन से संतुष्ट नहीं होता। आप तो गुरुजी की बड़े प्रेम से सेवा किया करते थे। आपने तो अपने इहलोक और परलोक दोनों ही बना लिये।"

सुदामाजी ने कहा—"अजी महाराज! क्या हमने सेवा की है, हम जेसों से हो ही क्या सकता है, किन्तु हे जगद्गुरो! हे देवादिदेव! हमारे लिये यही बड़े सौभाग्य की बात हे आप परमेश्वर के साथ हम पड़े हैं। आप सत्य संकल्प के साथ-साथ हमने भी गुरुकुल मे वास किया है। इस दृष्टि से तो हमारा सब कुछ बन गया। यह हमारे लिये महान् गौरव की बात है, कि हम अखिलकोटि ब्रह्माण्डनायक के सहाध्यायी हैं। एक गुरु से साथ-साथ पढ़े हैं। आप केवल हमारे ही ऊपर कृपा करने गुरुकुल पधारे थे। नहीं आपको क्या पढ़ना पढ़ाना था। कल्याण का उद्भवस्थान साक्षात् छन्दोमय वेद ही आपका मूर्तिमान विग्रह है। फिर आपके लिये गुरुकुल में रहने की आवश्यकता ही क्या है। यह भी आपकी केवल लोकलीला मात्र ही है। गुरुकुल वास करके आपने द्विजातियों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार बहुत देर तक उन दोनों मित्रों मे पुरानी नयी बातें होती रहीं। अब भगवान ने प्रकार सुदामाजी के अति तुच्छ उपायन को अपना कर

कुछ दे दिया, इस कथा को मैं आगे कहूँगा। आप सब इस सरस प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

घर महँ ईंधन नाहिँ कह्यो गुरुआनी जाओ।
बेटा! वन महँ जाइ तुरत ईंधन लै आओ॥
हम तुम दोऊ चलें प्रबल वन आँधी आई।
बरषा भीषन भई नहीं मग परै दिखाई॥
राति बिताई वृक्षतर, भोर भयो गुरु आइकें।
करयो प्यार आशिष दई, हिय लीये चिपटाइकें॥

सुदामाजी के चावल

(११६८)

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८१ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

जो गुरु दैके ज्ञान मोक्षको मार्ग बतावें ।
ते हरि हर अज रूप सच्चिदानन्द कहावें ॥
अच्छा, भाभी कहा हमारे लीये दीयो ।
अबहीं नहिँ तुम दयो विलम काहे कूँ कीयो ॥
कछु न कहें द्विज लाजवश, श्रीहरि वैभव तैं चकित ।
बार बार यदुबर कहैं, देहु उपायन प्रिय त्वरित ॥

स्वाद वस्तुओं में नहीं होता प्रेम में होता है। बिना प्रेम के अमृत भी पिलाया जाय, तो वह नीरस है स्वाद रहित है, यदि प्रेम सहित विष भी दिया जाय तो वह सरस है सुस्वादु है। कहीं-कहीं तो देने पर आग्रह करने पर भी खाने को चित्त नहीं करता,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इधर-उधर की बातें कहके, भगवान् ने सुदामाजी से कहा—"ब्रह्मन् ! आप घर से मेरे लिये क्या उपायन लाये ? भक्तगण यदि प्रेमपूर्वक मुझे अणुमात्र भी वस्तु देते हैं, तो वह मेरी दृष्टि में प्रेम के कारण बहुत हो जाती है और अभक्त यदि बहुत-सी भी भेंट लावें तो वे भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।"

चाहे वे कितनी भी सुन्दर वस्तुएँ हों। दुर्योधन ने भगवान् की सेवा के लिये कितनी वस्तुएँ जुटाई थीं, कितनी तैयारियाँ की थीं। कितना आग्रह किया और कराया था, किन्तु भगवान् ने उसमें से एक दाना भी नहीं उठाया। इसके विपरीत विदुर के घर में स्वयं जाकर स्वयं माँगकर केले के छिलके खाये। यह संसार भावमय है। वस्तुएँ न कोई बुरी हैं न अच्छी। जिनके प्रति जैसा भाव बन जाता है, वे वैसे ही दीखने लगती हैं। माता, बहिन, पत्नी, पुत्री, बूआ, भाभी सब एक सी स्त्रियाँ हैं। भावना से ही भेद है। किसी वस्तु को देखकर एक को वमन हो जाती है, तो दूसरा उसे ही रुचि के साथ अत्यन्त स्वाद के साथ खाता है। भगवान् को वस्तुओं की आवश्यकता नहीं। जिनकी स्वयं साक्षात् लक्ष्मी जी दासी हैं, उन्हें किसी वस्तु की कमी हो ही कैसे सकती है। किन्तु भगवान् भाव के सदा भूखे बने रहते हैं। प्रेम भाव से जो कोई उन्हें नीम का पत्ता भी देना चाहे तो उसे दौड़कर छीन कर आग्रह पूर्वक ले लेते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—"भाव ग्राही जनार्दनः" भगवान् भाव को ग्रहण करने वाले हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामा की पत्नी ने जो चार मुट्ठी चिउरा भगवान् को देने के लिये बाँध दिये थे। उन्हे सुदामा जी बगल मे दाबकर बड़े यत्न से लाये थे। मार्ग में सोचते आते थे, इन्हे जाकर भगवान् के आगे रखूँगा। प्रार्थना करूँगा, भगवन् मैं बहुत दरिद्र हूँ, मेरा यही उपायन स्वीकार करें। मैं तो सकोच के कारण ला भी नहीं रहा था, किन्तु ब्राह्मणी ने न माना। जब उसने बहुत हठ की तभी लाया। यद्यपि यह उपहार आपके अनुकूल तो नहीं है, किन्तु मेरी दीनता को दृष्टि मे रखकर इसे स्वीकार कर लें।" किन्तु यहाँ आकर जो इन्होंने भगवान का अतुल वैभव देखा तो उनका साहस न हुआ कि उन चिउरों को भगवान् की भेंट करें। उन्होंने सोचा—"इन चिउराओं को सब मेरी

हँसी उड़ावेंगे। इसलिये अब इन्हे न दूँगा। लौटकर घर ले चलूँगा।"

सर्वान्तर्यामी हरि तो सब जानते थे। वे देख रहे थे सुदामाजी की बगल मे एक छोटी सी पोटली है, उसे वे दबाये हुए हैं। नहाते समय, खाते समय तथा वस्त्र बदलते समय वे उसे छिपाये हुए रहते हैं। घट-घट की जानने वाले ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्यामसुन्दर समझ गये। कि ये संकोचवश इन चिउराओं को नहीं दे रहे हैं अतः वे उनका संकोच छुड़ाने के लिये मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—"हाँ, ब्राह्मन्! और बातें तो पीछे होंगी, पहिले यह बताइये, कि आप घर से हमारे लिये क्या भेंट लाये? हमारी भाभी ने हमारे लिये क्या भेजा है?"

यह सुनकर सुदामाजी सकपका गये। वे बडे लज्जित हुए। न तो वे हाँ ही कर सके और न ना ही, वैसे ही चुप चाप बैठे रहे, तब भगवान् फिर बोले—"देखो, भैया! सकोच करने की बात नहीं। यह तो हो नहीं सकता हमारी भाभी ने कुछ न भेजा हो कोई भी मित्र अपने मित्र से मिलने जाय, तो उसकी सहृदयता पत्नी उसके लिये कुछ न कुछ उपहार अवश्य भेजती है। उस उपहार की वस्तु का कोई मूल्य नहीं। उसमे लपेटकर हृदय की भावना दी जाती है। जैसे पान देना होता है, तो उसे एक पत्ते मे लपेट कर देते हैं। देने वाले का अभिप्राय पत्ता देने से नहीं है, वह तो पान को सुरक्षित रखने का साधन है। उसी प्रकार उपायन की वस्तु मे प्रेम भरकर दिया जाता है आपकी कृपा से मेरे यहाँ कोई कमी नहीं है। मैं वस्तुओं का भूखा नहीं प्रेम का भूखा हूँ। मेरे भक्तगण मुझे तनिक-सी भी वस्तु देते हैं, किन्तु प्रेम पूर्वक देते हैं, तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है। इसके विपरीत यदि वे छप्पन प्रकार के भोग भी दें मात्रा में भी विपुल हों तो भी बिना प्रेम की दी हुई भारी भेंट भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती

मेरे यहाँ प्रसन्नता का माप दण्ड वस्तु की लघुता, गुरुता अथवा छोटी बडी से नहीं है। मैं तो भावग्राही हूँ, जो पुरुष भक्तिपूर्वक मुझे एक फल भी देता है, फूल पत्ता यहाँ तक की जल ही देता है, तो उस प्रेम से दी हुई वस्तु को मैं प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेता हूँ। इसीलिये आप जो भी कुछ लाये है, उसे मुझे प्रसन्नता पूर्वक प्रदान कर दे, संकोच न करें।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! भगवान् के इस प्रकार बार बार कहने पर भी ब्राह्मण ने वह चार मुट्ठी चिउराओं की पोटली श्याम सुन्दर को नहीं दी, नहीं दी। वे कुछ बोले भी नहीं, भगवान् की बातो का उत्तर भी नहीं दिया, केवल सकोच तथा लज्जावश मुख नीचा किये हुए ज्यों के त्यों बैठे रहे।"

भगवान् ने कहा—"क्यों भैया! हमारी भाभी ने हमारे लिये कुछ नहीं दिया। अच्छा कह दो कुछ नहीं दिया।?"

इस पर रुक्मिणी जी बोलीं—"आप तो जिसके पीछे पड़ जाते हैं उसे निरश कर देते है। किसी के यहाँ लाने को न हो तो, यहाँ आपका कभी पेट ही नहीं भरता वे इतनी दूर से आये हैं उन्हें और कुछ देना चाहिये कि बार-बार "क्या लाये हो, क्या लाये हो।" कहकर लज्जित करना चाहिये।"

यह सुनकर व्यङ्ग के स्वर में भगवान् बोले—"रानीजी! अच्छा होता आप चुप ही रहतीं प्रत्येक बात मे टाग अडाना क्या उचित होता है ?"

रुक्मिणी जी ने कहा—न्याय की बात तो कही ही जाती है तुम्हे तो जिस बात की भी होती हे मगर मनार हो जाती है। लेना ही माँगते हो या कुछ देते भी हो।"

भगवान् बोले—"जी, हाँ! आपके बाप ने भी बहुत दिया था। लोग बेटी देते हैं, दहेज देते हैं और न जाने क्या देते हैं। सो दहेज देना तो पृथक रहा। तुम्हे भी हमको प्रसन्नता पूर्वक

नहीं दिया। हम तो अपने बाहुबल से बलपूर्वक छीन झपट लाये। उलटे अपने बेटे को हमें पकड लाने भेजा।"

प्रेम के रोष में रुक्मिणी जी बोलीं—"देखो, तुम अब बाप तक पहुँच गये हो। यह बात अच्छी नहीं है। लोगों को दूसरे के राई भर दोष पहाड से दीखते हैं और अपने पहाड जैसे दोष दिखाई ही नहीं देते। मेरे पिता ने तो कुछ नहीं दिया किन्तु नन्दोई जी जब सुभद्रा बीबी को उडा ले गये थे, तब तुमने क्या दिया था।"

भगवान् शीघ्रता से बोले—"हमने क्या नहीं दिया। अपना रथ दिया, घोडे दिये सारथी दिये। ये तब दिये जब तक विवाह नहीं हुआ था।"

रुक्मिणी जी ने कहा—"अब तुमसे बातों मे तो ब्रह्मा बाबा भी नहीं जीत सकते। हमें क्या अच्छा, और माँगो उनसे। उन की नगा झोरी ले लो। सच्ची बात कहते हैं, तो चिढ जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने बार बार भेंट के सम्बन्ध में पूछा और कहा मुझे प्रेम का दिया हुआ पान पत्ता भी अच्छा लगता है, तब सुदामा जी के मन में आया था, इस चिउरो की पोटली को निकाल कर भगवान् के सम्मुख रख दूँ, किन्तु जब पति पत्नी मे इतनी कहा सुनी हो गयी, तो तुरन्त उन्होंने अपना विचार बदल दिया। मैंने जहाँ ये चिउरे निकाले, कि यह राजा की छोरी खिलखिलाकर हँस पडेगी और कहेगी, यही तुम्हारे मित्र की भेंट है।" इस लज्जा से उन्होंने उस पोटली को और भी कसकर दबा लिया।

भगवान् तो समस्त प्राणियो के अन्त करण के साक्षात रूप से साक्षी है। उनसे सुदामा जी के आने का कारण, स्त्री द्वारा दिये हुए चिउराओं की बात छिपी नहीं थी। अत वे सोचने लगे सुदामा मेरे सच्चे निष्काम भक्त हैं, इन्होंने धन के लिये न तो

कभी पहिले ही मेरा चिन्तन किया और न अब ही कर रहे हैं। यहाँ यद्यपि ये अपनी पतिव्रता पत्नी की प्रसन्नता के ही निमित्त आये हैं। इनकी पत्नी सम्पत्ति की इच्छा करती है, किन्तु इन्हें तनिक भी इच्छा नहीं। उन चिउरों में धन की कामना छिपी है, इसी लज्जा से ये उन्हें नहीं दे रहे हैं, चिउरा देने का अर्थ है भगवान् से याचना करना इन्हें इस बात का भी संकोच हो रहा है कि इस अत्यल्प भेंट को भगवान् के सम्मुख क्या रखूँ। अच्छी बात है, ये स्वयं नहीं देते तो मैं ही इनसे छीनकर इनके लाये हुए उपायान को ग्रहण करूँगा और बदले में ऐसी सम्पत्ति दूँगा जो स्वर्ग में देवताओं के लिये भी दुर्लभ हो।"

यही सब सोचकर भगवान् ने कहा—"अच्छा, सुदामा जी! भाभी ने कोई भेंट नहीं भेजी, तो कोई बात नहीं है आप हमारे इन चित्रों को तो देखिये, कैसे सुन्दर हैं। कितनी उत्तमता के साथ बनाये गये हैं। यह सुनकर सुदामा जी चित्रों को देखने लगे। चित्र देखते-देखते उनका चित्त तन्मय हो गया। उसी समय मैले कुचैले फटे पुराने वस्त्र की पुटलिया में सिले चिउराओं को चुपके से निकाल लिया और हँसते हुए कहने लगे—"आप तो कहते थे, भाभी ने कुछ भेजा ही नहीं, यह क्या है। इस पोटली में क्या बँधा है।"

सुदामा जी ने कहा—"अजी, महाराज कुछ नहीं, यह कहकर ज्यों ही उन्होंने हाथ बढ़ाया त्यों ही भगवान् ने झपट कर छीना, त्यों ही वस्त्र फट गया। चिउरा गिरने लगे। भगवान् अट्टहास करते हुए बोले—"ओ हो! ये तो चिउरा हैं। पूरब के लोग तो दही के साथ चिउराओं को बड़े प्रेम से खाते हैं, किन्तु मुझे भी चिउरे अत्यन्त प्रिय हैं। फिर वे मित्र के यहाँ से लाये हुए हों, तब तो कहना ही क्या! अहा! यह तो तुम बड़ी सुन्दर भेंट लाये। भाभी ने अत्युत्तम उपहार मेरे लिये भेजा। इन चिउरों

को खाकर मैं ही तृप्त न हो जाऊँगा, अपितु मेरे आश्रय में रहने वाले समस्त ब्रह्माण्ड तृप्त हो जायँगे। ये तो सम्पूर्ण विश्व का पेट भर देंगे।" ऐसा कहकर शीघ्रता से भगवान् एक मुट्ठी चबा ही तो गये। ज्यों ही उन्होंने दूसरी मुट्ठी भरकर मुख में डालनी चाही, त्यों ही रुक्मिणीजी डर गयीं कि एक मुट्ठी मे तो ये सम्पूर्ण स्वर्ग की सम्पत्ति दे देंगे, दूसरी इन्होंने खाई तो ये मुझे ही उठा कर सौंप देंगे। अतः दौडकर उन्होंने पट्ट से भगवान् का हाथ पकड लिया। और बोलीं—"महाराज! बडे स्वार्थी हो आप। अकेले ही अकेले सब मेरी जिठानी की भेजी वस्तु को उडा रहे हो। हमारा भी तो इसमें कुछ भाग है। पुरुषों को तो कुछ पता नहीं रहता, उन्हें तो खाने से काम जिनके यहाँ से हमारे लिये भाजी बाइना आता है, उनके यहाँ हमे भी भेजना पडता है। चार-चार चावल सबके लिये भेजूँगी। आपने जितना खा लिया उतना ही पर्याप्त है।"

हँसकर भगवान् बोले—"अब तक तो तुनक रही थीं अब जिठानी की वस्तु पर अपना भी अधिकार जताने लगीं। छोड दो, छोड दो मुझे। सत्य कहता हूँ, जितना स्वाद इन चिउराओं मे है, उतना स्वाद आज तक किसी भी पदार्थ मे नहीं मिला।"

रुक्मिणी जी ने आग्रह के स्वर में कहा—"तभी तो मैं कहती हूँ स्वादिष्ट वस्तु को अकेले ही अकेले न खाना चाहिये।"

हे विश्वम्भर! आपने जितने चिउरे खा लिये हैं, उतने ही मनुष्यों को इस लोक और परलोक में सर्व सम्पत्तियों का भोग करने के लिये पर्याप्त हैं। यथेष्ट हैं। इससे अधिक चबाकर और भी उदारता दिखाकर मुझे भी इनके अधीन कर देना चाहते हैं क्या?"

यह सुनकर भगवान् रुक गये। शेष चिउरों को रुक्मिणी जी ने अपने अधिकार मे कर लिया। उन्होंने चार-चार चिउरों

के दाने सबके यहाँ भिजवाये। भगवान् पूछ रहे थे—"मित्रवर! इनमें तुम अमृत मिला लाये थे, या सुधा में भिगो लाये थे।

इतने स्वादिष्ट चिउरा तो हमने कभी भी नहीं खाये।"

सुदामाजी लज्जित थे। सहमे हुए थे। उन्होंने कुछ भी उत्तर

नहीं दिया इधर उधर की बातें कहकर भगवान् ने उनका संकोच छुड़ाया। फिर भगवान् ने अपना महल दिखाया। बाग बगीचों में घुमाया और सभी प्रकार से उनका आदर सत्कार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार साधारण चिउराओं को छीनकर खाकर भगवान् ने उन्हें सब कुछ दे दिया। अब जिस प्रकार सुदामाजी लौटकर अपने घर जायँगे। वह कथा प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

दये रुकिमिनी कछुक प्रेममय हरिकूँ ताने।
तिनकूँ सुनिकें विप्र औरु सहमे सकुचाने॥
इत उत चित्त बँटाइ बगल तैं चिउरा खींचे।
खाये मुट्ठी तुरत कहें ये अम्मृत सींचे॥
लगे चबावन दूसरी, लयो रुकिमिनी पकरि कर।
कहें—"करो का कृपानिधि, मोहू कूँ कछु देउ बर॥"

सुदामाजी की विदाई

[११६९]

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८१ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

चिउरा मुट्ठी एक खाय सब सम्पति दीन्ही।
मोकूँ हू अब दैन आपने इच्छा कीन्ही॥
यों हरि सब कछु दयो न द्विजकूँ प्रकट दिखायो।
होत प्रात ही विप्र पूछि निज नगर सिधायो॥
कछुक दूरि पहुँचाइवे, आये हरि हिय लाय कें।
विदा करे अति विनय तें, अति ही नेह जनाय कें॥

कैसा भी स्नेह क्यों न हो, जब परिस्थितियाँ विभिन्न हो जाती हैं, तो छोटी परिस्थिति वाले पुरुषों को सकोच होने ही लगता है। अपनी अन्तरात्मा के साक्षी तो स्वय ही है यहाँ रहने में स्वतन्त्रता है, कहाँ हृदय मे खटक है। इसके लिये किसी अन्य से पूछना नही पडता। अपना हृदय साक्षी दे देता है।

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"हे तात! दूसरे दिन प्रात काल होने पर सुदामाजी अपने घर को चल दिये। स्वानन्द स्वरूप जगन्नियन्ता भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी ने उनका अभिवन्दन किया और उन्हें कुछ दूर साथ-साथ मार्ग में जाकर विनय पूर्वक विदा किया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! द्वारका में भगवान् का अपार वैभव था। सम्पूर्ण ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ वहाँ हाथ जोड़े भगवान् की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ी रहती थीं। सोलह सहस्र रानियाँ छम्म-छम्म करके इधर से उधर घूमती रहती थीं। सुदामाजी ने देखा वहाँ का वैभव अनिर्वचनीय है। सब लोग उनका आवश्यकता से अधिक मान सम्मान करते हैं। उस दिन वे भोर में ही पहुँचे थे, दिन भर रहे और रात्रि को भी भगवान् के महल में ही सोये। यहाँ रहकर उन्होंने ऐसी-ऐसी वस्तुएँ खायीं जो न उन्होंने पहिले कभी देखी थीं, न सुनी ही थीं। ऐसे-ऐसे पेय पदार्थ पिये जो अमृत के सदृश सुन्दर, स्वादिष्ट और हृदय को प्रसन्न करने वाले थे। उन्होंने ऐसा अनुभव किया, कि मैं भूलोक में नहीं हूँ साक्षात् स्वर्ग में निवास कर रहा हूँ।

प्रातःकाल हुआ, उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था मानों किसी ने मेरी स्वतन्त्रता छीन ली है। गुरुकुल में जिस प्रकार भगवान् से खुलकर बातें होती थीं वैसी बातें वे यहाँ न कर सके, यद्यपि भगवान् ने तो उनका आवश्यकता से अधिक स्वागत सत्कार किया, किन्तु स्वयं ही उन्हें सकोच हो रहा था। वे सोच रहे थे—"मुझ दरिद्र को ऐसे स्वर्गीय सुखों के भोगने का क्या अधिकार है। सर्वान्तर्यामी प्रभु से सेवा कराना अपने ऊपर और पाप चढ़ाना है। मैं जब तक रहूँगा, भगवान् बिना सेवा किये मानेंगे नहीं। उनसे सेवा लेने में मेरा मरण ही हो जायगा। इसलिये अब यहाँ से शीघ्र ही भाग चलो।" यही सब सोचकर वे श्यामसुन्दर से बोले—"भगवान् ! अब मुझे जाने की आज्ञा हो।"

भगवान् ने अत्यन्त ममता के साथ कहा—"क्यों भैया ! इतनी शीघ्रता क्यों ! कितने दिनों के पश्चात् तो मिलन हुआ है। दो चार दिन तो और रहो।"

सुदामाजी बोले—"रहने को तो कोई बात नहीं थी, जैसे ही

यहाँ वैसे ही वहाँ, किन्तु ब्राह्मणी अकेली है। वह घबराती होगी, मेरा वहाँ पहुँचना आवश्यक है। आवश्यक न होता, तो मैं आपके आग्रह को न टालता।"

यह सुनकर भगवान् चुप हो गये। उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु निकलने लगे। सुदामाजी तो शाल दुशाले ओढ़े हुए थे, वह उन्होने उतारकर रख दिये। अपनी फटी पुरानी अँगरखी पहिन ली। फटी और मैली पगड़ी माथे से लपेट ली और अपनी सटकिया को उठाकर चल दिये। भगवान् भी उनके पीछे-पीछे चलने लगे और सहस्रों सेवक भी भगवान् का अनुगमन करने लगे। भगवान् ने सेवकों को लौटा दिया। अकेले ही मित्र के साथ पैदल चले। सुदामाजी वार-वार कहते—"अब श्यामसुन्दर! तुम लौट जाओ।" किन्तु भगवान् लौटते ही नहीं थे। नगर के बाहर एक सघन वृक्ष की छाया मे सुदामाजी वैठ गये और बोले—"वासुदेव! देखो, भैया! जिनके फिर आने की आशा हो, उन्हें दूर तक पहुँचाने न जाना चाहिए।"

यह सुनकर सच्चिदानंद स्वरूप जगन्नियन्ता भगवान् श्यामसुन्दर ने सुदामाजी के चरणों मे प्रणाम किया, सुदामाजी ने भी रोते-रोते उनका गाढ़ालिङ्गन किया। फिर दोनों खिन्न मन से एक दूसरे से विदा हुए। भगवान् द्वारका की ओर लौट आये और सुदामाजी अपनी पुरी की ओर चले।

सुदामाजी को वार-वार अपनी कृपणता के ऊपर ग्लानि हो रही थी, वे सोच रहे थे—"देखो, भगवान् कैसे ब्रह्मण्यदेव हैं, कैसे उदार हैं, उनके समीप मैं तुच्छ धन की आशा से गया था। मेरा तो उनके सम्मुख धन माँगने का साहस ही न हुआ। उन्होंने भी अपने आप मुझे कुछ धन नहीं दिया। न दिया, तो मुझे तो दुख नहीं। मेरी पत्नी को अवश्य निराशा होगी। वह आशा लगाये बैठी होगी। उसे विश्वास होगा, मैं बहुत-सा धन लेकर

आऊँगा। वह वड़े-वड़े मनोरथ कर रही होगी, धन आने पर एक घर बनवाऊँगी, वस्त्र लूँगी, आभूषण बनवाऊँगी। एक गौ भी रखूँगी। अब मैं ज्यों का त्यों रिक्त हस्त उसके सम्मुख पहुँचूगा, तो वह शोक मे कातर हो उठेगी। मैं उसके कहने से व्यर्थ आया। अकारण उसे निराशाजनित वेदना होगी।

फिर सोचने लगे—"मेरा तो जन्म सफल हो ही गया। मुझे भगवान् के दर्शन हो गये, यही क्या कम लाभ है। मैं कानो से ही सुना करता था, कि भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्रह्मण्यदेव हैं, किन्तु आज तो मैंने प्रत्यक्ष इसे अपनी आँखों से ही देख लिया। नहीं तो कहाँ मैं महापातकी नाममात्र का नीच भिखारी ब्राह्मण और कहाँ साक्षात् लक्ष्मी के पति भगवान् विश्वम्भर। मेरी उनकी समता ही क्या? फिर भी उन्होंने केवल जाति का मैं ब्राह्मण हूँ, इसी नाते से मेरा गाढ़ालिङ्गन किया। जिस वक्षःस्थल मे साक्षात् भगवती कमला निरन्तर चंचलता का परित्याग करके विहार करती है, उसी वक्षःस्थल मे मुझ मलिनवसन दीन-हीन महादरिद्री ब्रह्मबन्धु को सगे बड़े भाई की भाँति चिपका लिया। जिस पलँग पर उनके और उनकी प्रिया के अतिरिक्त कोई पैर भी नहीं रख सकता, उसी पलँग पर मुझे अपने साथ कितने आदर से बिठाया। मुझे श्रमित देखकर लक्ष्मीरूपा उनकी परम प्रिया प्रधान पटरानी भगवती रुक्मिणी जी ने अपने अरुण वरण कोमल कर कमलो से मेरा व्यजन किया। मेरे ऊपर चँवर डुलाया। जिनके चरणारविन्द के धोवन से त्रिभुवन को पावन करने वाली भगवती त्रिपथगा सुरसरि प्रकट हुई हैं, उन्हीं विश्वम्भर ने श्रद्धा सहित मेरे पैरों को धोया, और उस धोवन को प्रेमपूर्वक सिर पर चढ़ाया। अपने कोमल करो से मेरे मल से आवृत कठोर और खुरदरे पैरो को दबाया। इष्टदेव से भी बढ़कर मेरा आदर सत्कार किया।

अब एक शंका उठ सकती है, जिन भगवान् के चरणारविन्दों का पूजन करके प्राणी अपनी समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण कर सकते हैं। पृथ्वी पर, पाताल में, स्वर्ग में तथा अन्यान्य बड़े-बड़े लोकों में कोई भी दुर्लभ से दुर्लभ सम्पत्ति नहीं, जो भगवन् सेवा से प्राप्त न हो सके। अणिमादि ऐश्वर्य यहाँ तक कि मोक्ष भी उनके चरणों की सेवा से मिल सकती है। फिर उन्होंने मुझे धन क्यों नहीं दिया। यद्यपि मेरी आन्तरिक इच्छा धन याचना की नहीं थी। तथापि मेरी पत्नी की तो इच्छा थी ही। वे तो घट-घट की जानने वाले हैं, उसने तो मुझे भेजा ही इसीलिये था। उसके लिये तो कुछ दे देते, किन्तु उसके लिये भी उन्होंने कुछ नहीं दिया। इसमें भी कोई रहस्य होगा, उनकी कृपालुता इसमें भी छिपी होगी।"

ऐसा सोचते-सोचते वे जा रहे थे, कि उसी समय घोर जंगल में उन्हें एक बड़ा सेठ आता हुआ दिखायी दिया। आनर्त देश के जंगली डाकू तो प्रसिद्ध ही थे। उन्होंने उसे घेर लिया और उसका सब धन लूटकर उसे मार भी डाला। सुदामाजी सब देख रहे थे। उनकी ओर किसी ने देखा भी नहीं। सबने कह दिया—"यह भिखारी है, इसे कुछ अन्न दे दो।" यह कहकर वे चोर उलटे अन्न देकर चले गये।

तब सुदामाजी ने कहा—"ओहो! यही बात है, करुणासिन्धु भगवान् ने सोचा होगा—"धन दे दें, तो मार्ग में इसे कोई लूट लेगा। यदि कोई न भी लूटे और यह धन को लेकर अपने घर सकुशल पहुँच भी जाय, तो यह जन्म का निर्धन है। धन पाकर उन्मत्त हो जायगा। अब तक जो मेरा स्मरण कर लेता है धन पाकर फिर वह भी न करेगा।" वास्तव में धन आते ही रजोगुण बढ़ जाता है, विषय सुखों में राग हो जाता है। भगवान का स्मरण छूट जाता है। धन में ये ही सब दोष देखकर, दयासिन्धु

श्यामसुन्दर ने मुझे धन न देकर मेरा उपकार ही किया, मेरे ऊपर कृपा ही की। जिसके पास भगवत् स्मरण रूप धन है उसे अन्य धन की क्या आवश्यकता और जिसके पास भगवत् स्मरण रूप धन नहीं है, उसके पास चाहे जितना भी धन हो, वह किस काम का।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर सुदामाजी तो यही सब सोचते हुए जा रहे थे, उधर योगमाया और विश्वकर्मा को आज्ञा देकर भगवान् ने सुदामाजी के घर को इन्द्र के भवनों से भी उत्तम बनवा दिया। वहाँ सभी समृद्धियाँ भर दीं। अब जिस प्रकार सुदामाजी अपने समृद्धिशाली घर और अतुल वैभव को देखकर विस्मित होंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

मग महँ सोचत जात श्याम आदर अति कीयो।
किन्तु न एक छदाम बाह्मनी कूँ धन दीयो॥
नहीं दियो भल कियो अरथ तैं अनरथ होवै।
द्रव्य पाइकें पुरुप मनुजता ऋजुता खोवै॥
सोचत सोचत नगर ढिग, पहुँचि लगे विस्मय करन।
निरखि असन, पट, गज, तुरँग, बहु सम्पति मणिमय भवन॥

सुदामा चरित की समाप्ति

[११७०]

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विपज्जतस्तत्पुरुपप्रसंगः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८१ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

दिव्य अपसरा बनी वस्त्र भूपन तैं सज्जित।
बहु दासिनि तैं घिरी निहारी नारी हरपित ॥
स्वरगसरिस सम्पत्ति सकल श्रीहरिकी जानी।
समुझि गये सब रहस कृपा यदुवरकी मानी ॥
सुमिरन करि करि कृपाको, पुलकित तनु विनती करैं।
जनम जनम हरि सखा बनि, ऐसे ही मम दुख हरैं ॥

सहायता जितनी ही छिपकर की जायगी, उसका महत्व उतना ही अधिक होगा। अत्यंत प्रेम में दिखावट तनिक भी नहीं रहती।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सुदामाजी अपने घर का ऐश्वर्य देखकर भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं—"मुझे जन्म जन्मान्तरों में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र से सौहार्द सख्य, मैत्री और दास्यभाव की प्राप्ति हो तथा महानुभाव और गुणों के आश्रयस्थान उन भगवान् में ही अनुराग हो और उन्हीं के भक्तों का संग प्राप्त हो।"

जिसमें जितनी ही अधिक दिखावट होती है, उतनी ही उसमें प्रेम की कमी मानी जाती है। हार्दिक प्रेम में गोपन करने की भावना रहती है। हमारे प्रेम को हमारा प्रेमास्पद जान न सके। हमारी सेवा को समझ न सके। हमारी सहायता उसकी दृष्टि में न आने पावे। बच्चा रात में सो जाता है, माता उसे उठाकर गोद में लिटाकर दूध पिला देती है। बच्चा प्रातःकाल रोता है, "हमने रात्रि में दूध नहीं पिया।" माता हँसकर कहती है—"अब पीले"। वह यह जताना उचित नहीं समझती, मैंने रात्रि में तुझे दूध पिलाया था। बहुतेरे प्रेमियों को देखा है, वे इस ढंग से अपनी वस्तुओं को भेजते हैं, कि हमारे प्रेमास्पद को पता न लगे, अमुक वस्तु कहाँ से आयी है। जैसे देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, वैसे ही प्रेम का आदान-प्रदान जितना ही छिपकर परोक्ष में किया जायगा, उतना ही उसका महत्व बढ़ेगा। जहाँ विज्ञापन है, दिखावट है, ढिंढोरा पीटना है, प्रकाशित करना है वहाँ स्वार्थ है, कीर्ति की इच्छा है, ख्याति की भावना है दम्भ है। प्रेम से यह दूर की बात है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामाजी अनेक प्रकार की बात सोचते हुए तथा भगवान् के अपूर्व प्रेम का स्मरण करते हुए मार्ग में चल रहे थे। चलते-चलते वे अपने घर के निकट पहुँचे। दूर से ही उन्होंने देखा, मेरी टूटी-फूटी झोपड़ी का कहीं पता ही नहीं। उसके स्थान पर एक बड़ा भारी विशाल भवन खड़ा हुआ है। वह सात खंड का भवन सूर्य के समान, पूर्णचन्द्र के समान तथा प्रज्वलित अग्नि के समान देदीप्यमान हो रहा है। उसमें एक से एक भव्य भवन बने हुए हैं। उसके आस-पास फलों और पुष्पों से नमित असंख्यों वृक्षों वाले उपवन लगे हुए हैं। आराम और उपवनों से वह विशाल भवन अत्यन्त ही शोभायुक्त बना हुआ है। बीच-बीच में सुन्दर स्वच्छ शीतल सलिल वाली पुष्क-

रिणियाँ बनी हुई हैं। जिनमें हंस, सारस, चक्रवाक तथा अन्यान्य जलजन्तु किलोलें कर रहे हैं, तथा कुमुद, अम्भोज, कह्लार और उत्पल आदि नाना प्रकार के कमल खिल रहे हैं। चारों ओर दिव्य सुगन्धि फैली हुई है। सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहिने, सहस्रों दास-दासी कानों मे मणिमय कनक कुण्डल धारण किये इधर से उधर आ जा रहे हैं। जिस प्रकार स्वर्ग में अप्सरायें विहार करती हैं, उसी प्रकार वहाँ की अत्यन्त सुकुमारी, सुन्दरी मृगनयनी दासियाँ अपने नूपुरों की झंकार से उस विशाल भवन को मुखरित करती हुई घूम रही हैं।

उस इतने वैभवशाली विशाल मणिमय भवन को देखकर और वहाँ के अभूतपूर्व ऐश्वर्य को देखकर सुदामाजी हक्के-बक्के-से होकर परम विस्मय के साथ चारों ओर निहारने लगे। वे सोचने लगे—"मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ।" फिर उन्होंने आँखें मलीं। सोचा—"स्वप्न नहीं है, मैं तो जागा हुआ हूँ।" तो फिर सोचने लगे—"अहो! मैं मार्ग भूलकर किसी दूसरे राजा की राजधानी में आ गया। किन्तु भूलोक के तो किसी भी राजा का ऐसा ऐश्वर्य देखने या सुनने में नहीं आया।" फिर सोचने लगे—"मैं मार्ग भूला नहीं, यह पूर्व की ओर वही शिवालय है, वही वट का वृक्ष है। पश्चिम के ओर वे ही खेत हैं, वह रामा भड़भूजा है। यह देखो मेरा पड़ोसी सोमदत्त है, ये उसके बच्चे हैं। स्थान तो यह मेरा ही है, किन्तु मेरे चले जाने के पश्चात् मेरी पत्नी को किसी ने यहाँ से निकालकर मेरी झोपड़ी को तुड़वाकर महल बनवा लिया है। लोभ का परिणाम यही होता है। जो आधी को छोड़कर पूरी लेने दौड़ता है, वह आधी को भी गँवा बैठता है। मेरी स्त्री न जाने कहाँ ठोकरें खाती होगी, उसे अब मैं कहाँ पाऊँगा। कौन मुझे उसका पता बताने आवेगा। यहाँ तो इतने पहरे वाले हैं, वे मुझे भीतर भी न घुसने देंगे, किसी ने निर्धन

ब्राह्मण पर दया भी नहीं की। मेरा बच्चा छोटा था कई दिन से उसे भोजन नहीं मिला था। उसकी क्या दशा होगी। मेरी स्त्री उसे कहाँ लिये लिये फिर रही होगी। हाय! विपत्ति जब आती है, एक साथ ही आती है। अब तक दरिद्रता का ही दुख था, अब हाथ से घर भी छिन गया। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! सुदामाजी चिन्ता मे खडे-खडे यही सोच रहे थे, कि किसी ने उनके घर मे उनके आने की सूचना दे दी। सूचना देते ही देवताओं के समान परम तेजस्वी, अत्यन्त रूपवान्, सहस्रों नर-नारी बडे उत्साह के साथ गाते बजाते उन्हें लेने के लिये आगे आये और प्रणाम करके बोले—"महाराज पधारिये! महाराज! पधारिये।"

ब्राह्मण ने सोचा—"ये सब मेरा इस प्रकार आदर सत्कार क्यों कर रहे हैं। उन्होंने एक से पूछा—"भाई! कहाँ चलें?"

उसने नम्रता के साथ कहा—"महाराज! अन्तःपुर मे स्वामिनीजी के समीप पधारें।"

सुदामाजी ने सोचा—"कोई धर्म मे बुद्धि रखने वाली रानी होगी। ब्राह्मण समझकर कुछ ऐसा सेवा-सत्कार करना चाहती होगी, इसके यहाँ कोई पर्व उत्सव होगा। अच्छा है, चले प्रसाद पायेंगे। कुछ दान दक्षिणा मिलेगी तो कहीं पत्नी को ढूँढकर उसे दे देंगे। जिससे वह यह तो न कह सके, कि रिक्त हस्त लौट आये।" यही सब सोचकर वे सबके साथ चल दिये।

जब सुदामाजी की पत्नी ने अपने पतिदेव के शुभागमन का शुभ सम्वाद सुना, तो वह सज बजकर आरती सजाकर बहुत-सी दासियों से घिरी हुई द्वार पर आयी। सुदामाजी ने इतनी सुन्दरी स्त्री को देखकर समझा यह कोई रानी है। उन्होंने अपनी दृष्टि नीची कर ली। सुदामापत्नी पति के पधारने की प्रसन्नता में

अत्यन्त उत्सुकता के साथ अपने भवन से उसी प्रकार निकल रही थी, जिस प्रकार कमलवन से साक्षात् लक्ष्मीजी नारायण के दर्शनों के लिये आई हों। अपने पति के दर्शन करके पतिव्रता के नेत्रों से झरझर करके प्रेमाश्रु झरने लगे, मारे हर्ष के उसके नेत्र बन्द हो गये, इच्छा तो हुई अपने जीवन सर्वस्व हृदयधन का कसकर आलिङ्गन करे, किन्तु सबके सम्मुख वह ऐसा कैसे कर सकती थी, कुलवती, शीलवती, पतिव्रता रमणियाँ सबके सम्मुख पति का स्पर्श नहीं कर सकती, अतः उसने भूमि में सिर टेककर पति के पादपद्मों में प्रणाम किया। और मन से ही ध्यान में उनका गाढ़ालिंगन किया। फिर अवरुद्ध कण्ठ से स्पष्ट वाणी में उसने कहा—"प्राणनाथ!"

सुदामाजी चौंक पड़े, कि यह कैसी रानी है मुझसे यह क्या चाहती है। यह मुझे पति की भाँति सम्बोधित क्यों कर रही है। इसका कुछ दुष्ट विचार तो नहीं है। उनके मनोगत भावों को समझकर ब्राह्मणी बोली—"देव! आप विस्मय क्यों कर रहे हैं। यह घर आपका ही है। मैं आपकी चरणदासी हूँ।"

अब तो सुदामाजी बोली से पहिचान गये। उन्होंने आँख उठाकर जो देखा तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उनकी स्त्री के कंठ में सुवर्ण की मालायें पड़ी हैं। मणि मुक्ताओं के आभूषणों से वह सज रही है। सहस्रों दासियाँ उसकी सेवा में संलग्न हैं। वे सोचने लगे—"हैं, अरे, इसमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया। यह तो काली कलूटी सी थी, अब तो यह साक्षात् मूर्तिमती लक्ष्मी सी लगती है। वे समझ गये यह सब भगवान् ने कौतुक रचा है।"

तब तक स्त्री ने आग्रहपूर्वक कहा—"स्वामिन्! भीतर पधारिये। अपने भवन की शोभा निहारिये। प्रभु प्रदत्त प्रसाद को स्वीकारिये।"

यह सुनकर सुदामाजी अत्यत प्रसन्न होकर पत्नीके साथ अपने समृद्धिशाली भवन के भीतर गये। जो इन्द्र भवन के सदृश

सुविस्तृत, सुन्दर तथा शोभायुक्त था। जिसमें सहस्रों मणिमय खम्भे लगे हुए थे। सभी भवन कलयी किये हुए स्वच्छ तथा

निर्मल थे। उनमे सुखद,सुन्दर सजी हुई शैयायें बिछी थीं, जिनके पाय हाथीदाँत के थे और पाटियाँ सुवर्ण की बनी हुई थीं। जिन पर दुग्ध फेन के समान अमल, विमल,सुन्दर, स्वच्छ, सुकोमल, शुभ्र बिछौने बिछे हुए थे। स्थान-स्थान पर पर्दे रखे थे, जिनकी डण्डियाँ सुवर्ण मण्डित थीं। भवनों मे जो गलीचे बिछे थे, उन पर सुवर्ण का काम हो रहा था, भवनों की छतों में जो चाँदनियाँ टँगी थीं उनमें झिलमिल-झिलमिल करते हुए सच्चे मोती हिल-हिलकर मानो सुदामा जी का स्वागत कर रहे थे। स्थान-स्थान पर मणिमय सिंहासन बने थे। उन दिव्य भवनों की भीते स्फटिक मणियों की बनी हुई थीं। नीचे की भूमि में इन्द्र नील मणियाँ जडी हुई थीं। उनमे घृत या तैल के दीपक नहीं थे। मणियो के प्रकाश से ही वे सब भवन जगमग-जगमग कर रहे थे। जैसे ही सुन्दर, स्वच्छ, चमकीले वे भवन थे, उसके अनुकूल ही वेसी ही सुन्दरी रमणियाँ उनमे सेवा कर रहीं थीं मानों अनेक रूप रखकर लक्ष्मी ही अपने कर कमल से उन भवनों को बुहार रही हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस सर्वसम्पत्ति युक्त भवन को देखकर तथा बिना प्रवल पुरुपार्थ किये हुए अपनी अतुलनीय सम्पत्ति को देखकर सुदामाजी मन ही मन सोचने लगे—"देखो, मैं तो जन्म का दरिद्री था, भाग्यहीन था। मुझे इतनी सम्पत्ति मिलना अति दुर्लभ हे। यह सब यदुनन्दन श्यामसुन्दर की कृपा है। उन्होंने ही मुझे यह सम्पत्ति प्रदान की हैं। उन्होंने ही मुझ दरिद्र पर दया करके यह दुर्लभ दान दिया है।"

यह सुनकर शोनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक बात हमारी समझ मे नहीं आई, कि भगवान् ने द्वारका मे तो सुदामा जी को कुछ नहीं दिया। और यहाँ चुपके से इतनी सम्पत्ति दे दी। देना

था, तो वहाँ कुछ दे देते जिससे सुदामा जी को मार्ग में इतनी ऊहापोह न करनी पडती।"

सूतजी बोले—"महाराज! द्वारका मे धन न देने के अनेकों कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि किसी आत्मसम्मान वाले मनस्वी पुरुष को उसके मित्र, सगे सम्बन्धी प्रत्यक्ष सहायता देते हैं तो उसे लज्जा लगती है। वह अपने को एक प्रकार से छोटा समझने लगता है, उसके आत्मसम्मान पर ठेस लगती है, इसलिये सज्जन पुरुष प्रत्यक्ष सहायता न देकर प्रकारान्तर से देते हैं, चलते समय बच्चे को कुछ दे जाते हैं। लडका लडकी के विवाह के अवसर पर कोई आभूषण आदि दे देते हैं। बहू को मुख दिखाई दे देते हैं। साराश यह है कि किसी न किसी प्रकार सहायता तो उसके घर मे पहुँच जाय, किन्तु उसे प्रत्यक्ष लेते समय लज्जा का अनुभव न करना पडे। इसीलिये भगवान् ने द्वारका में प्रत्यक्ष कुछ न देकर परोक्ष रूप से सम्पत्ति घर भिजवा दी।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है। प्रत्यक्ष दान देते समय गृहीता अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता है। सज्जन पुरुष दूसरों को आभारी देखकर लज्जित होते हैं। अतः प्रत्यक्ष देने में स्वयं भगवान् को भी लज्जा लगी। वे यह तो जानते ही थे धन की इच्छा से सुदामाजी आये हैं। यदि मैं इन्हें यहीं विपुल धन देता हूँ, तो कृतज्ञता के कारण इनका सिर नीचा हो जायगा। उस समय हमारी मैत्री मे एक संकोच उत्पन्न हो जायगा। वे साधुता के कारण दीनता मिश्रित अपनी कृतज्ञता प्रकट करेंगे ही, मुझे बडी लज्जा लगेगी। फिर हमारा मित्र-मित्र का सम्बन्ध न रहकर दाता प्रति महीता का सम्बन्ध हो जायगा। जो मित्रता की दृष्टि में अत्यन्त तुच्छ है, इस संकोच से प्रत्यक्ष नहीं दिया।

तीसरा कारण यह है, कि वस्तुओं मे प्रियता नहीं उनकी

उत्कट प्रतीक्षा में प्रसन्नता है। एक करोड़पति है, उसके यहाँ लाखों रुपया नित्य आते जाते हैं, इसमे उसे कोई प्रसन्नता नहीं, क्योंकि वह तो नित्य का ही काम है। एक दूसरा है वो चाहता है मुझे दस रुपये मिल जायें, किन्तु मिलते नहीं। एक दिन वह निराश हो गया सहसा उसे सहस्र रुपये अकस्मात् मिल गये। उस समय उसे जो प्रसन्नता होती है वह अवर्णनीय है। सुदामाजी को पूर्ण आशा थी, इतने बड़े द्वार पर जा रहा हूँ, वहाँ से रीता थोडे ही लौटूँगा, कुछ न कुछ तो श्यामसुन्दर देंगे ही, किन्तु हुआ उसके प्रतिकूल। भगवान् ने प्रत्यक्ष में कुछ भी न दिया। अब सब ओर से आशा टूट गयी, जब इतने बड़े द्वार पर पहुँचकर भी मुझे कुछ नहीं मिला, रीते हाथों लौट आना पडा तो मेरे भाग्य मे धन है ही नहीं, इसी प्रकार जीवन काटना है। सब ओर से निराशा हो जाने पर जो उन्हे सहसा इतनी बडी सम्पत्ति मिल गयी, उसमे उन्हे सुख द्वारका मे मिलने की अपेक्षा अधिक हुआ।

चौथा कारण यह है, कि गुप्तदान का बडा माहात्म्य है। लोग लड्डू मे रखकर, फलों मे भरकर या किसी और प्रकार से गुप्तदान करते हैं वही श्रेष्ठ दान है। केवल दाता ही समझे, लेने वाला भी न समझे। श्रेष्ठ पुरुष इसी प्रकार दान देते है। किसान अपने घर में सोता रहता है, इन्द्र रात्रि मे आकर उसके खेत को जल से भर जाते हैं। बोये हुए खेत को सींच जाते हैं। इसी प्रकार श्रेष्ठों के श्रेष्ठ भगवान् ने सुदामा जी के हाथ मे देने में सकोच किया। वे द्वारका ही मे थे, तभी उनके घर को ऋद्धि सिद्धिमय बना दिया।

पाँचवा कारण यह भी हो सकता है, कि सुदामाजी की इच्छा तो धन माँगने की थी नहीं, उनकी पत्नी धन चाहती थी। भगवान् तो वांछाकल्पतरु हैं, उनका भक्त उन्हे जैसे भजता है वे उसे

वैसे ही फल देते हैं। सुदामाजी निष्किञ्चन बने रहना चाहते थे, इसलिये उन्होंने न भगवान् से धन की याचना की और न भगवान् ने ही उन्हे धन दिया। स्त्री धन चाहती थी इसलिये उसे धन दे दिया। पति-पत्नी एक ही हैं अतः वह धन सबके उपयोग में आया।

इस प्रकार प्रत्यक्ष धन न देने के अनेकों कारण हैं। एक यह भी कारण है, कि भगवान् को लज्जा लगी, कि इस तनिक से धन को सुदामा जी को क्या दूँ। अपने भक्त को तो मैं अखिल ब्रह्माण्डों का राज्य दे दूँ, या अपने आप को भी दे डालूँ तो भी न्यून है। भगवान् तो समझते थे मैंने कुछ भी नहीं दिया। इधर सुदामाजी 'इस इतने अधिक वैभव को देखकर आश्चर्य चकित रह गये। वे सोचने लगे—"देखो, भगवान् कैसे ब्रह्मण्यदेव हैं, मैंने एक मुट्ठी चिउरा दिये, उनको ही उन्होंने कितने प्रेम से स्वीकार किया तुरन्त उन्हे खा गये। कितनी प्रशंसा कर रहे थे, चिउराओं का स्वाद कहते-कहते अघाते नहीं थे। इसके विपरीत अपनी इतनी दी हुई सम्पत्ति को भी वे अत्यल्प ही अनुभव करते हैं।"

मेरी तो उन सर्वात्मा सर्वस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु के पादपद्मों में यही प्रार्थना है,कि "मुझे जन्म जन्मान्तरों में उन्हीं के पादपद्मो की प्रीति प्राप्त हो। मेरे मन में उन्हीं के प्रति सौहार्द भाव हो, इसी प्रकार वे मुझे अपना तुच्छातितुच्छ दास, सखा, मित्र, और बन्धु समझते रहें। इसी प्रकार मैं जन्म जन्मान्तरों में दरिद्री होऊँ, किन्तु होऊँ श्रीकृष्ण भक्त। जिससे वे मेरे ऊपर इसी प्रकार कृपा की वृष्टि करते रहें। मेरा उन्हीं अच्युत के चरणों में अनुराग हो, उन्ही के भक्तों का संग प्राप्त हो।

भगवान् ने अब तक मुझे दरिद्री रखा, सो मेरे ऊपर बड़ी

कृपा की। जैसे माता के पास भाँति भाँति की मिठाइयाँ रखी हों, रबडी, हलुआ, खीर चाहे जितनी रखी हो, किन्तु अपने रोगी पुत्र को वे पौष्टिक वस्तुएँ खाने को नहीं देती। पौष्टिक वस्तुएँ स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य को बढाती हैं, किन्तु वे रोगी को दी जायँ तो रोग को बढावेंगी। दुग्ध बलकारक होता है, किन्तु जिसका कफ बढा हुआ हो, वह यदि दूध पीवेगा, तो उसका बल न बढा कर वह कफ की ही वृद्धि करेगा। इसी प्रकार जो विचारवान् नहीं है, जिनकी बुद्धि अभी पूर्णतया परिपक नहीं हुई है, ऐसे अपने भक्तों को भगवान् धन नहीं देते। क्योंकि धनी पुरुष धन के मद में मदमाते होकर भाँति भाति के अनर्थ करने लग जाते हैं। उनमें मनुष्यता नहीं रह जाती उनका नेतिक पतन हो जाता है, इसी धन के दुष्परिणाम को देखकर वे भक्तों को निष्किञ्चन ही बनाये रहते हैं। जब दारिद्र सम्बन्धी घोर दुःख पडने पर भी जिनकी बुद्धि विचलित नहीं होती, उनके मन में पाप से पेसा पेदा करने की भावना नहीं उठती, तो भगवान् समझ लेते हैं, यह धन से अधिक धर्म को, सदाचार को और मुझे समझता है, तब उसे चाहते है, तो धन दे भी देते हैं। अब तक भगवान् ने मेरी परीक्षा की। मुझे विचित्र सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि कुछ न देकर दारिद्र दुःख दिया। इनमें भी मुझे उनका ही स्मरण बना रहा। उन्हीं के अनुग्रह से उन्हीं के कृपाप्रसाद से मेरा मन अनर्थ की ओर नहीं गया। नहीं तो दरिद्रता में जब अन्याय से धन आता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है, तो उस लोभ का सवरण करना असभव हो जाता है। भगवान् ने मुझे भली भाँति ठोक बजाकर यह सम्पत्ति दी है। दी क्या है न्यासरूप में रख दी है, मुझे अपनी सेवा का अवसर दिया है सम्पूर्ण सम्पत्ति के एकमात्र स्वामी तो व श्रीपति ही हैं। मैं तो उनका मुनीम मात्र हूँ। मैं इस सम्पत्ति की पाई पाई प्रभु की पूजा में लगाऊँगा और प्रभुप्रसाद पाकर यह

प्रभु सेवोपयोगी शरीर का उनकी सेवा के निमित्त ही पालन पोषण करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! ऐसा निश्चय करके सुदामाजी अनासक्त भाव से त्यागपूर्वक प्रभुप्रसाद की भावना से अपनी पत्नी के सहित उन विषयों का उपभोग करने लगे। उन्होंने कभी शरीर को पुष्ट करने की भावना से भोजन नहीं किया। प्रभुप्रसाद समझकर ही उसे पाया। इस प्रकार भगवान् ने इन दरिद्र निर्धन ब्राह्मण के ऊपर कृपा करके अपनी ब्रह्मण्यता सबके सम्मुख प्रदर्शित की। यद्यपि भगवान् अजित कहलाते हैं, उन्हें कोई अपने पुरुषार्थ से जीतना चाहे तो नहीं जीत सकता। हाँ, वे अपने भक्तों के सम्मुख पराजित हो जाते हैं। भक्त उन्हें अपने नयनों की पुतलियों में रखकर बंद कर लेते हैं। हृदय मे बिठाकर उन्हें रोक लेते हैं। वे रुक जाते हैं, भक्तों के अधीन बन जाते हैं। इसीलिये उन्हें भक्तवश्य कहा है। सुदामाजी निरन्तर उन्हीं भक्तवश्य भगवान् का तीव्रता के साथ ध्यान किया करते थे। इसीलिये अविद्यारूपिणी ग्रन्थि का छेदन करके वे अन्त में भगवान् के परमधाम को प्राप्त हुए।

जो पुरुष विशुद्ध भाव से इस परम पुण्यप्रद सुदामा चरित रूप मधुमय उपाख्यान को कर्ण कुहरों द्वारा पान करेंगे अथवा वाणी द्वारा कहकर दूसरों को तृप्त करेंगे उन्हें तत्काल भगवान् का प्रेम प्राप्त होगा और उस प्रेम के वेग से ही वे कर्म के बन्धनों से विमुक्त बन जायँगे। इस प्रकार बाल्यकाल के बिछुड़े अपने सुदामा सखा को एक बार मिलने पर ही निहाल कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! बाल्यकाल के सखा सुदामा को दर्शन और ऐश्वर्य देकर तो भगवान् ने निहाल कर दिया, किन्तु चिरकाल के बिछुड़े उन ब्रजवासी गोपी ग्वालों को भी भगवान् ने फिर कभी दर्शन दिया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! गोप गोपियों ने तो श्रीकृष्ण को वसुदेवजी से मोल ले लिया है छोरा के बदले में छोरी दी है। छोरी को तो कंस ने मार दिया। जब तक गिरवी रखी हुई वस्तु का मूल्य नहीं चुकाया जाता तब तक रखने वाला उसे ले नहीं सकता। इसलिये भगवान् को तो व्रजवासियों ने मोल ले लिया है। भगवान् भी ऐसे हिल गये है, कि वे वृन्दावन की सीमा के बाहर एक पैर भी नहीं रखते। अक्रूरजी लेने आये, तो संकोच वश अक्रूर-घाट तक तो चले गये, किन्तु दो रूप रखकर एक रूप से तो यमुनाजी में छिपकर वृन्दावन चले आये और एक से मथुरा और द्वारका में प्रकट लीला करने लगे। अब वृन्दावनवासी श्रीकृष्ण को डर लग गया, कि कहीं अक्रूरजी फिर रथ लेकर न आ जायँ, फिर मुझे वृन्दावन से न ले जायँ, अतः भगवान् विरह का रूप रखकर तो प्रकट हुए और अप्रकट भाव से गोपियों के साथ निरन्तर क्रीड़ा करते रहे और अब भी सेवाकुंज में निरन्तर करते हैं, किसी-किसी भाग्यशाली को अब भी प्रत्यक्ष उनके दर्शन होते हैं। उनके परम भक्त उद्धवजी भी गुप्त रूप से गुल्म-लता रूप में व्रज में वास करते हैं। एक रूप से वे बदरीवन में तप करते हैं। अतः प्रकट रूप से तो भगवान् फिर व्रज में नहीं आये। हाँ, एक बार कुरुक्षेत्र में सब गोपी गोपों से उनकी भेंट अवश्य हुई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! गोपी गोप कुरुक्षेत्र क्यों गये। भगवान् वहाँ क्या युद्ध मे अर्जुन का रथ हाँकने आये थे। युद्ध के समय व्रजवासियों की वहाँ जाने की क्या आवश्यकता हुई ?"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज ! यह भेंट युद्ध के समय नहीं हुई। महाभारत युद्ध के बहुत पहिले भगवान् का व्रजवासियों से सम्मेलन हुआ। सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में स्नान करने का बड़ा माहात्म्य होता है। इधर से गोपी गोप प्रायः स्नान करने

व्रज से आये। उधर से द्वारकापुरी से भगवान् सपरिवार स्नान करने आये। अकस्मात् भेंट हो गयी। अब मैं उसी सुखद सम्मिलन का वर्णन करूँगा। आप सब सावधान होकर इस सुखद सरस शुभ सम्वाद को श्रवण करें।"

छप्पय

प्रभु प्रसाद सब समुझि करें विषयनिका सेवन।
मन महँ धारे कृष्ण करें तिनि नित प्रति चिन्तन॥
जग महँ सब सुख भोगि अन्त हरि लोक पधारे।
भये सुदामा सखा श्यामके अतिशय प्यारे॥
सुने सुदामा चरित जे, ते न परें भवकूप पुनि।
गोपनि संग हरि मिलन ज्यों, भयो कहूँ अब सुनहु मुनि॥

कुरुक्षेत्र में व्रजवासियों की भगवान् से भेंट

[११७१]

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः।
सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा॥
तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः।
समन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया॥*

(श्री भा० १० स्क० ८२ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

सूर्य ग्रहन इक बार परयो सुनि सब नर नारी।
गये न्हान कुरुक्षेत्र सकल यादव बनवारी॥
इततैं गोपी गोप परब पै मिलि तहँ आये।
भेंट परस्पर भई सकल मिलि परम सिहाये॥
उभय ओर आनन्द अति, प्रमुदित यादव गोपगन।
खिल्यो कमल मुख नयन जल, पुलकित तनु गद्गद वचन॥

तीर्थ और पर्व प्रेमियों के साथ—सगे सम्बन्धियों के साथ मिल कर किये जाते हैं, तभी उनमे आनन्द आता है। पर्वों के अवसर

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक बार की बात है, जब श्री रामकृष्ण द्वारकापुरी मे ही निवास करते थे, उसी समय कल्प क्षय मे जैसा होना है, वैसा ही खग्रास सूर्यग्रहण का पर्व पड़ा। लोगों ने पञ्चांगों से प्रथम ही जान लिया था, अतः ग्रहण के पूर्व ही देश देशान्तरों के बहुत से लोग पुण्य कर्म करने की इच्छा से स्यमन्त पञ्चक क्षेत्र (कुरुक्षेत्र तीर्थ) के लिये गये।"

पर गंगादि तीर्थों में जाते हैं, तो पुण्य तो प्राप्त होता ही है साथ ही अपने इष्ट मित्र, सगे सम्बन्धी तथा अनेक सुपरिचित व्यक्ति मिल जाते हैं। अपने प्रेमियों से भेंट हो जाना संसार में यह एक सबसे बड़ा लाभ है। यों केवल मिलने के उद्देश्य से सहसा जाया नहीं जाता। उसमें बहुत-सी आगे पीछे की बातें सोचनी पड़ती है। तीर्थयात्रा के लिये सभी स्वतन्त्र हैं। सभी बड़े उत्साह से तीर्थों में विशेष पर्वों के अवसर पर जाते हैं। वहाँ एक पन्थ दो काज हो जाते हैं। अपने स्नेही भी मिल जाते हैं और तीर्थ व्रत भी हो जाते हैं। तीर्थों में संत महात्माओं का दर्शन हो जाना, अत्यंत प्रेमियों का मिल जाना, तीर्थ का प्रत्यक्ष फल मिलने के समान है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तक महाराज युधिष्ठिर का यज्ञ नहीं हुआ था उसके पहिले की ही बात है। सब व्रजवासियों से भगवान् की कुरुक्षेत्र में भेंट हुई। जब बलरामजी के सहित भगवान् आनंद से निवास करते थे, तब उन्हीं दिनों में ज्योतिषियों ने बताया—"महाराज! अबके तो सर्वग्रास सूर्यग्रहण पड़ेगा। जैसे कल्प की प्रलय में सूर्य अदृश्य हो जाते हैं, वैसे ही अबके अमावस्या को ग्रहण के कारण अदृश्य हो जायँगे। इस अवसर पर कुरुक्षेत्र में ग्रहण स्नान का बड़ा महात्म्य है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तो अबके कुरुक्षेत्र में ही ग्रहण स्नान हो।"

यह बात रुक्मिणीजी ने सुनी कि भगवान् कुरुक्षेत्र ग्रहण स्नान करने जाने वाले हैं। अतः उन्होंने कहा—"प्राणनाथ! मैंने सुना है आप कुरुक्षेत्र ग्रहण स्नान करने जायँगे?"

भगवान ने कहा "हाँ इच्छा तो है।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"तब मुझे भी साथ लेते चलें। आपके साथ मेरा भी स्नान हो जायगा। जोड़े से ही स्नान करने का महात्म्य है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम भी चली चलना।"

अब क्या था, यह समाचार बात की बात में सब महलों में फैल गया। सभी भगवान् के साथ चलने का आग्रह करने लगीं। भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, सब चलो।" अपने पिताजी वसुदेवजी से भी कहा, माताओं से भी कहा, बलदेवजी को भी ले चलना आवश्यक था। अब तो जो भी सुने वही ग्रहण स्नान के पुण्य को लूटने को उत्सुकता प्रकट करने लगा। अक्रूरजी, उग्रसेनजी, गद, प्रद्युम्न, साम्ब तथा अन्यान्य यादवगण भगवान् की अनुमति से ग्रहण स्नान को चलने को उद्यत हो गये। अब सबके सब तैयारियाँ करने लगे। भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! सबके सब चल दोगे, तो फिर द्वारका की रक्षा कौन करेगा। कुछ लोगों को नगरी की रक्षा के लिये भी रहना चाहिये।"

यह सुनकर सभी परस्पर में—"तू रह, तू रह" कहकर एक दूसरे से रहने का हठ करने लगे। तब भगवान् ने कहा—"देखो, सेनापति कृतवर्माजी का रहना तो परमावश्यक है। ये ही रक्षाधिकारी हैं। इनकी सहायता के लिये सुचन्द्र, शुक, सारण और अनिरुद्ध रहें। इतने वीर यदि रहें आवेंगे तो द्वारका की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

अब कोई क्या कह सकता था। जब भगवान् की आज्ञा ही हो गयी तब उसमें ननुनच के लिये स्थान ही नहीं। जिनके लिये पुरी में रहने की आज्ञा हुई, वे पुरी में रह गये, शेष सभी बड़े ठाट बाट से सज बज कर समूह के साथ ग्रहण स्नान के लिये चले। मार्ग में ठहरते हुए, वे सब यादवगण कुछ ही काल में उस परम पवित्र कुरुक्षेत्र में पहुँच गये, जिसमें महा शस्त्रधारी परशुरामजी ने इक्कीस बार क्षत्रियों को मारकर राजाओं के रक्त से बहुत बड़े बड़े नौ कुण्ड भर दिये थे। यद्यपि वे ईश्वर थे, पाप पुण्य से निर्मुक्त थे। उन्होंने क्षत्रियों का जो वध किया था, वह भू का भार उतारने के

लिये किया था। फिर भी उनके पितरा ने उनसे हत्याओं का प्रायश्चित करने को कहा। अत पितरो की आज्ञा शिरोधार्य करके, पाप से निर्लिप्त होते हुए भी केवल लोक शिक्षार्थ अन्य साधारण पुरुषों की भॉति बहुत से प्रायश्चित यज्ञ किये, जिससे वे निष्पाप बन जायें। इस क्षेत्र को परम पवित्र समझकर ही परशु-रामजी ने यहाँ यज्ञ किये थे। इस क्षेत्र के अन्तर्गत ही स्यमन्त-पञ्चक नामक तीर्थ है। जिसमें सूर्यग्रहण के समय स्नान करने का महान् पुण्य बताया गया है। अब भी जब सूर्यग्रहण लगता है, तो कुरुक्षेत्र मे लाखो नर नारियों का भीड होती है।

उस समय ग्रहण का समाचार सुनकर सभी देशों से लोग स्नान करने आये। बहुत से राजा भी अपने परिवार, मन्त्री और पुरोहितों को सग लेकर ग्रहण स्नान के निमित्त आये। सभी यादव-गण कठा मे सुवर्ण की दिव्य मालाओ को पहिने, हुए थे। मणि मय महा मूल्यवान् हारा से उनकी अपूर्व शोभा हो रही थी। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषणों को पहिने, कवचो को धारण किये, अपने बडे बडे विमाना के सदृश रथा मे अपनी सजी सजायी स्त्रिया के सग देवताओं के समान शोभित होते थे। उनके सुवर्ण मडित रथ सूर्य के प्रकाश मे देव विमानों के सदृश प्रतीत होते थे। उन रथा म जुते घोडे इतने वेग के साथ भूमि पर दौड रहे थे, मानों समुद्र के ऊपर चचल तरगे उठ रही हों। कुछ ही काल में वे सबके सब कुरुक्षेत्र पहुँच गये। तीर्थ से हटकर कुछ दूर पर सघन वृक्षों की छाया मे उन सबन अपने डेरे डाले। उन सबके साथ यथेष्ट सेवक सैनिक थे, अत बात की बात मे वहाँ सब प्रबन्ध हो गया। देखते देखते नगर सा बस गया। ठहरने की व्यवस्था हो जाने पर उन सब यादवों ने जाकर तीर्थ स्नान किया। तीर्थयात्रा का नियम है, जिस दिन तीर्थ मे पहुँचे उस दिन उप वास करे। इसलिये सबने प्रथम दिन उपवास किया। पर्व के

दिन बड़ी भीड़ थी, कौन आया कौन गया, किसी का कुछ पता ही नहीं चलता था। यादव सभी बड़े धनी थे। सभी ने परशुरामजी के कुण्डों में शास्त्रीय विधि से स्नान किया। ब्राह्मणों के लिये पूड़ी, कचौड़ी, लड्डू, खीर, मोहनभोग तथा अन्यान्य उत्तम से उत्तम भोजन श्रद्धापूर्वक कराये। उन्हें ऊनी-रेशमी वस्त्र, सुगन्धित पुष्पों की मालायें, सुवर्णमय हारों से विभूषित सुन्दर सूधी दुधार गौएँ दान दीं। सब कर्म करने के अनन्तर सभी ने हाथ जोड़कर यही प्रार्थना की "भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में हमारी भक्ति हो।"

ब्राह्मणों को भोजन कराके तथा उन्हें यथेष्ट दान दक्षिणा देकर सभी ने भगवान् की आज्ञा से भोजन किया और सघन वृक्षों की शीतल छाया में विश्राम करने लगे। स्नान, दान, भोजन तथा विश्राम करने के अनन्तर अब सबको यह सूझी कि देखें यहाँ कौन-कौन आये हैं। उन्होंने देखा ग्रहण स्नान करने चारों दिशाओं से सहस्रों राजा आये हुए हैं। क्षेत्र के चारों ओर योजनों लम्बे राजाओं के डेरे पड़े हुए हैं। मत्स्य देश के राजा, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, केकय, मद्र, कुन्ति, आनर्त और कोल आदि अनेकों देशों के राजागण वहाँ ठहरे हुए हैं। बहुत से राजा यादवों के सम्बन्धी थे, बहुत से अपने पक्ष के थे और बहुत से विपक्षी भी थे।

कौरव और पांडव भी ग्रहण स्नान के लिये आये हुये थे। वे कई दिनों पहिले से ही आकर पड़े हुए थे। कुरुक्षेत्र उनके राज्य में ही था, अतः उन्हें मेले का प्रबन्ध करना था। कौरवों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी थीं। महारानी कुन्ती भी अपने पुत्रों के सहित पधारी थीं। उन्होंने जब अपने भाई, भावज, भतीजे माता, पिता तथा अन्यान्य सगे सम्बन्धियों का आगमन सुना, तो वे तुरन्त [illegible] में बैठकर यादवों के डेरों पर आईं। जब भगवान् ने

अपनी बुआ को देखा, तो उनके पैर छुए। कुन्तीजी ने भी भगवान् का सिर सूँघकर उनका आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिये। फिर वे अपने भाई वसुदेवजी से तथा अपनी भाभियों से मिलीं। सभी ने कुन्तीजी का बड़ा सम्मान किया। चिरकाल में अपने भाई वसुदेवजी को देखकर कुन्तीजी का हृदय भर आया, वे फूट-फूटकर रोने लगीं। वसुदेवजी ने अत्यन्त प्यार से कहा—"बहिन! रोते नहीं हैं।"

रोते-रोते कुन्तीजी बोलीं—"भैया! मैं अपने भाग्य को रोती हूँ, कि मैं कितनी अभागिनी निकली। जब मैं छोटी थी, तभी मुझे माता-पिता को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना पड़ा। मुझे जन्म दूसरे माता-पिता ने दिया और पालन दूसरों ने किया। विवाह होकर जहाँ गयी, वहाँ भी राजसुख न भोग सकी। घोर वनों में, दुर्गम पर्वतों में हमें मुनियों का-सा जीवन बिताना पड़ा। वहाँ मेरा भाग्य फूटा। मैं विधवा हुई। वे इन छोटे-छोटे बच्चों को छोड़ कर परलोकवासी हुए। फिर तो मानों मेरे ऊपर विपत्तियों का पहाड़ ही टूट पड़ा। आपत्ति विपत्ति थोड़ी बहुत सभी पर पड़ती है, किन्तु आपत्तियों में सगे सम्बन्धी आकर सहानुभूति प्रकट करते, समवेदना दिखाते हैं, तो वे आपत्तियाँ कम हो जाती हैं, किन्तु मैं इससे भी वञ्चित रही। आपने मेरी विपत्ति के समय भी सुधि नहीं ली। इसमें मैं आप सबको दोष नहीं देती। आप सब तो साधु स्वभाव के हैं। मेरा ही भाग्य खोटा था, जिससे इतने सज्जन होते हुए भी तुम हमें भूल गये। हमारे दुःखों की उपेक्षा कर गये। शास्त्रकारों का यह कथन अक्षरशः सत्य है, कि जिसके विधाता वाम हो जाते हैं, उसके जाति वाले, माता, पिता, भ्राता, सुत, सुहृद, तथा सभी स्वजन भूल जाते हैं। कोई बात भी नहीं पूछता। मेरा भाग्य न होता, तो तुम सर्वसमर्थ होकर भी मेरे दुःखों की इतनी उपेक्षा क्यों करते। क्या मैं तुम्हारी सहोदरा

भगिनी नहीं हूँ, क्या मैं सहानुभूति की अधिकारिणी नहीं हूँ।"

अपनी वहिन कुन्ती की ऐसी मर्मस्पर्शी करुणापूर्ण वातों को सुनकर वसुदेवजी बोले—"वहिन! तुम ऐसी वातें मत करो! संसार मे कौन किसे दुःख दे सकता है, कौन किसी का दुःख बाँट सकता है। हम सबके सब विधाता के खिलौने हैं, वह जिसे जहाँ उठाकर रख देता है, वह वहाँ रखा रहता है, जिसके साथ खेलना चाहता है खेलता है। हम सब अवश हैं, परवश होकर यन्त्र की तरह कार्य कर रहे हैं। यन्त्री जैसा चाहता है हमारा उपयोग करता है। वहिन! कालरूप भगवान् के ही वश में होकर जीव नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। सची वात यह है कि हम अब तक ऐसी स्थिति में रहे कि इच्छा रहते हुए भी हम तुम्हारे प्रति क्रियात्मक सहानुभुति न प्रकट कर सके।"

कुन्तीजी ने कहा—"हाँ. भैया! भाग्य का ही तो सब खेल है, नहीं तो मेरे सगे भाई और सर्वसमर्थ होकर तुम इस प्रकार मुझे भूल जाओ! इसमें भाग्य के अतिरिक्त दोष भी किसे दिया जाय।"

वसुदेवजी ने कहा—"अच्छा, तू ही वता हम कव-कव ऐसी स्थिति में रहे, कि तेरे प्रति सहानुभूति प्रकट करते। जब से तेरी छोटी भौजाई का विवाह हुआ है, तभी से कंस हमें क्लेश देने लगा। हमारे जाति वन्धु इधर-उधर अन्य देशों में छिप-छिपा कर दिन काटने लगे। हमें निरन्तर कृष्ण की रक्षा की चिन्ता वनी रहती थी। यद्यपि हम इसे गोकुल मे अपने वन्धु नंदराय के यहाँ छिपा आये थे, किन्तु तो भी खुटका तो बना ही रहता था। जैसे तैसे वह दुष्ट कृष्ण के द्वारा मारा गया। फिर उसका ससुर जरा-सन्ध हमारे पीछे पड़ गया। सत्रह वार अगणित सेना लेकर उसने हमारे ऊपर चढ़ाई की। अठारहवीं वार तो हम अपने पैतृक राज्य को छोड़कर यहाँ द्वारका में ही आ गये। द्वारका आये भी हमें

बहुत दिन नहीं हुए। जैसे तैसे घर बनाकर सन्तोष की साँस ली है, सो यहाँ भगवान् ने तुमसे भेंट करा ही दी। अब तू जो कहेगी हम करने को प्रस्तुत हैं। बीबी! यह सब भाग्य की विडम्बना है। कौन किसकी सहायता कर सकता है। जिसे स्वयं सर्प ने काट लिया है, वह दूसरों की सर्प से कैसे रक्षा कर सकता है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भाई बहिन में अपने सुख दुख की बातें हो ही रहीं थीं कि सेवकों ने समाचार दिया—"बाहर बहुत से राजागण महाराज से मिलने आये हैं।" यह सुनते ही वसुदेवजी तुरन्त उठकर बाहर आये। बाहर उन्होंने देखा बहुत से राजा राजपुत्र सपरिवार महाराज उग्रसेन से तथा समस्त यादवों से मिलने आये हैं। जिसमें भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, गान्धारी और दुर्योधनादि अपने शतपुत्रों के सहित, अंधे महाराज धृतराष्ट्र अपने बाल बच्चे और स्त्रियों के सहित, पाँचों पाडव, सृञ्जय, परमभक्त विदुरजी, कृपाचार्य, महाराज कुन्तीभोज, विराट, रुक्मिणीजी के पिता भीष्मकजी, वसुदेवजी के बहनोई महाराज नग्नजित्, महाराज पुरुजित, द्रोपदी के पिता महाराज द्रुपद, नकुल सहदेव के मामा महाराज शल्य, राजा धृष्टकेतु, पाडु और धृतराष्ट्र के मामा काशिराज, दमघोष, विशालाक्ष, मिथिलादेश के राजा, मद्रदेश के राजा, केकय देश के राजा, युधामन्यु, सुशर्मा तथा पुत्रों के सहित बाह्लिक ये मुख्य थे। अन्य भी बहुत से राजा भगवान वासुदेव और बलरामजी के दर्शनों के लिये आये हुए थे। भगवान् के मेले में पधारने से चारों ओर हल्ला मच गया था। लाखों नर-नारी नित्य दर्शनों को आते थे। प्रायः सभी राजाओं के साथ उनकी रानियाँ थीं। सब भगवान् लक्ष्मीनिवास के दर्शन करके परम विस्मित हुए। स्त्रियाँ तो भीतर स्त्रियों में चली गयी। पुरुषों का बलरामजी सहित

भगवान् वासुदेव ने हार्दिक स्वागत किया। उन सबको उनकी योग्यता के अनुसार आसन दिये और मधुर वचनों से तथा पूजा की सामग्रियों से उनका स्वागत सत्कार किया। भगवान् अच्युत का देवदुर्लभ दर्शन पाकर वे सबके सब परम सन्तुष्ट हुए। वे अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए तथा यादवों के सौभाग्य की सराहना करते हुए महाराज उग्रसेन से कहने लगे—"हे यादवेन्द्र! वैसे संसार में नित्य ही असंख्यों जीव जन्म लेते रहते हैं, किन्तु वास्तव में कहा जाय तो आप लोगों का ही जन्म लेना सार्थक है। मानवजन्म का फल तो आपने ही पाया है।"

उग्रसेनजी ने कहा—"राजाओ! हम आपके सम्मुख क्या हैं। जैसे तैसे समुद्र के बीच में रहकर दिन काट रहे हैं।"

राजाओं ने कहा—"महाराज! सभी दिन काट रहे हैं। अंतर इतना ही है कि हम लोग विषयों के कीड़े बने दिन काट रहे हैं। जैसे पीब का कीड़ा पीब में ही बिलबिलाता रहता है, वैसे ही हम इन्द्रियों के विषयों में फँसे हुए समय को व्यर्थ गँवा रहे हैं। आप लोगों के भाग्य के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। जिन सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर का एक बार भी दर्शन बड़े-बड़े योगियों के लिये दुर्लभ है, उन्हीं अच्युत अखिलेश भगवान् वासुदेव का आप लोग निरन्तर दर्शन करते हैं। उन्हें अपने समीप ही सर्वदा निहारते रहते हैं। भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन, स्पर्श और सहवास के सम्बन्ध में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वेदों में जिनकी वर्णन की हुई कीर्ति का गान करके मनुष्य इस भवसागर से पार हो जाते हैं। जिनके चरणों से निकली भगवती, सुरसरि में स्नान करके जीव पापनिर्मुक्त हो जाते हैं, जिनके शास्त्ररूप वचन इस सम्पूर्ण जगत् को पूर्णतया पवित्र बनाने में समर्थ हैं। उनके दर्शन आप नित्य करते हैं तो फिर आप से बढ़कर महाभाग्यशाली दूसरा कैसे हो

सकता है । ब्रह्मादिक देव भी आपके भाग्य की प्रशंसा नहीं कर सकते। देखिये, कालक्रम से शक्तिहीन, भाग्यहीन हुई भूमि भी जिनके चरणकमलों के स्पर्श से उर्वरा और सौभाग्यशालिनी बन जाती है। केवल भगवान् की चरणधूलि पड़ने ही से जिसमे सब प्रकार की शक्ति आ जाती है, सब पदार्थों को उत्पन्न करने मे समर्थ हो जाती है। उस चरणधूलि को आप नित्य प्राप्त करते हैं । भगवान् के नित्य दर्शन करते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनके साथ-साथ चलते फिरते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं, उनके साथ सोते हैं, उनके साथ एक आसन पर बैठते है, साथ-साथ बैठकर भोजन करते हैं। कहाँ तक गिनावें सभी क्रियायें आप कृपासागर कृष्ण के साथ करते हैं, उनके साथ आपका वैवाहिक दैहिक सम्बन्ध है। इसलिये आप तो परमहंस मुनियों से भी बढकर हैं। आप यद्यपि गृहस्थाश्रम मे अवस्थित हैं, संसार बन्धन के कारणभूत गृह मे अवस्थित हैं, फिर भी आपको क्या चिन्ता। आपके घर में तो स्वर्ग और अपवर्ग के दाता दयासागर श्रीमन्नारायण अवस्थित हैं। अतः आपसे बढ़-कर संसार मे भाग्यशाली कौन होगा।"

उग्रसेनजी ने कहा—"यह सब आप लोगों का आशीर्वाद है। श्रीकृष्णचन्द्र के पीछे ही तो हम सबको आपके दर्शन हो गये। नहीं तो हमें राजाओं के साथ बैठने का अधिकार ही क्या था। श्रीकृष्ण सर्वसमर्थ हैं जो चाहे सो कर सकते हैं। जिसे जो चाहे बना सकते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार राजा लोग बातें कर रहे थे, कुछ तो उग्रसेन की अनुमति लेकर भगवान् के पाद-पद्मों में प्रणाम करके चले गये, कुछ वहीं यादवों के साथ ठहर गये।"

ग्रहणस्नान की इच्छा से व्रजराज नन्दजी भी अपने समस्त ग्वाल वाल तथा गोपियों के सहित कुरुक्षेत्र में आये थे। वे स्नान के ही दिन पहुँचे थे अतः शीघ्रता से छकडों को खडा करके स्नान करने गये। जब सब गोपी गोप स्नान कर चुके तो यह प्रश्न उठा कि डेरा कहाँ डाला जाय। उसी समय किसी से सुना द्वारका से यादव भी आये हैं। वसुदेवजी, श्री कृष्णचन्द्र, बलराम सभी आये हैं। इस समाचार को सुनकर यशोदाजी तो प्रेम में विह्वल हो गयीं। वे नन्दजी से बोलीं—"व्रजराज! वहीं चलो, मैं अपने कनुआ बलुआ को देख भी लूँगी। जितने दिन यहाँ रहना है, उतने दिन उनके ही साथ रहेंगे।" इस बात का सभी ने हृदय से समर्थन किया। नन्दजी भी यही चाहते थे, अतः उन्होंने छकडे हाँक दिये। लोगों से यादवों के डेराओं का पता पूछते पूछते वहाँ पहुँचे। उनके साथ सहस्रों छकडे थे, उनमें जीवनोपयोगी सभी सामग्रियाँ लदी हुई थीं। दूर से ही उनके छकडों के पंक्तियों को देखकर समस्त यादव अपने-अपने डेरों से निकल आये। गोपी-गोपों को देखकर वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे मृतक देह में प्राण आ गये हों। सभी बहुत दिनों से इच्छा कर रहे थे, कि कभी व्रजवासी गोपों से भेंट करने चलें। आज सहसा अपने आप गोपों को देखकर उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा, दौडकर वसुदेवजी नन्दजी से लिपट गये। दोनों एक दूसरे को कसकर हृदय से चिपटाये हुए थे। उस समय वसुदेवजी के नेत्रों के सम्मुख वह दृश्य प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा, जब वे कंस के द्वारा दिये हुए क्लेशों के कारण अत्यन्त ही क्लेशित बने हुए थे। जब उन्हें पुत्र की रक्षा का कोई अन्य उपाय न सूझा तो वे आधी रात में उसे लेकर नन्दजी के गोकुल में गये। इन सब घटनाओं के स्मरण से वसुदेवजी का हृदय द्रवित हो रहा था और वही हृदय जल बनकर नयनों से निकल रहा था।

भगवान राम और कृष्ण कहीं बाहर घूमने गये थे। जब उन्होंने नन्दजी के आगमन का समाचार सुना, तो बच्चों की

भाँति दौड़ते हुए, छलांग मारते हुए वहाँ आ गये और आते ही अपने माता पिता नन्द और यशोदाजी के चरणों में लिपट गये

और फूट-फूटकर रोने लगे। अपने बच्चों को इस प्रकार रोते देख-कर नन्द यशोदा का भी हृदय भर आया। वे गोदी में दोनों को बिठाकर अपने हाथों से उनके आँसू पोंछ रहे थे और अपने शीतल अश्रुओं से उनके शिरों को भिगो रहे थे। वह दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। जितने भी दर्शक वहाँ खड़े थे, सबके सब रोने लगे। सबकी आँखें भीगी हुईं थीं। भगवान् कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कण्ठ रुक जाने से कुछ कह न सके। नन्द और यशोदा अपने पुत्रों को गोदी में बिठाकर हृदय से चिपकाये हुए थे। और ये दोनों भी अबोध भोले-भाले शिशुओं के समान उनके हृदय से लिपटे हुए थे। दोनों ही ओर से जब प्रेम का आवेग कम हुआ विरहजन्य दुःख अश्रु बनकर निकल गया तब नन्दजी तो अपने गोपों के साथ पुरुषों में चले गये और यशोदाजी गोपियों को लिये हुए अन्तःपुर में रानियों के पास चली गयीं। अब जिस प्रकार गोपियों की और यादवों की पत्नियों की भेंट होगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

रामकृष्ण ने दौरि नन्द यशुमति पग पकरे।
शिशु सम गोद बिठाइ पुत्र कसिके हिय जकरे॥
उभय नयन जलधार बहे करुना घबरानी।
भये कठ अवरुद्ध न निकसै मुखतैं बानी॥
मातु पिताकी गोदमहँ, रोवत शिशु सम श्याम बल।
पट भिगवत सिसकत लिपटि, पुनि-पुनि पोंछत नयन जल॥

यशोदाजी की देवकी तथा रोहिणी आदि से भेंट

[११७२]

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥
का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८२ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

शान्त भयो आवेग यशोदा भीतर आई ।
दौरि देवकी और रोहिनी हिये लगाई ॥
करि करि पिछली यादि अधिक आभार जतावें ।
'ये तुमरी सुत बधू' सबनिके नाम बतावें ॥
राम श्यामकी बहुनि कूँ, लखि प्रमुदित यशुमति भई ।
नाती पेटा होहिँ बहु, मातु सबनि आशिष दई ॥

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यशोदाजी से रोहिणीजी और देवकीजी हृदय से हृदय सटाकर मिली और उनके पूर्वकृत मैत्री सम्बन्धी उपकारों को स्मरण कर-करके गद्गद कण्ठ से कहने लगी—"हे व्रजेश्वरि ! आपने जैसी हमारे साथ कभी भी न छूटने वाली मैत्री निभाई उसे भला कौन-सी स्त्री भूल सकती है। इन्द्रपद पाकर भी उस उपकार का प्रत्युपकार नहीं किया जा सकता।"

स्त्रियों में सौहार्द अधिक होता है, और उनका हृदय भी अधिक कोमल होता है, अतः वे जब परस्पर में बहुत दिनों में मिलती हैं, तो बहुत देर तक एक दूसरी को हृदय से लगाये रहती हैं और रोती रहती हैं। जब कोई तीसरी आकर उन्हें समझा कर छुडाता है तब फिर मिलकर एक दूसरी से पृथक होती हैं। फिर तुरन्त आँसू पोंछकर इधर उधर की बातें भी करने लगती हैं। दो बहिनों तथा सखी सहेलियों का चिरकाल के अनन्तर जो मिलन होता है, वह एक परम दर्शनीय दृश्य होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी तो बाहर ही रह गये, यशोदाजी गोपियों के साथ भीतर स्त्रियों में चली गयीं। जब देवकीजी तथा रोहिणीजी ने यशोदाजी के आगमन का समाचार सुना तो वे दौड़कर आगे आयीं। देवकीजी ने यशोदा मैया को अभी तक देखा नहीं था। रोहिणीजी तो वहाँ रह ही आयीं थी, अत. प्रथम रोहिणी ने जाकर यशोदा मैया की भेंट भर ली। परस्पर एक दूसरी को देखकर दोनों का ही प्रसन्नता के कारण हृदय खिल गया था। मुखारविन्द पर आनन्द की आभा प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। प्रेमाश्रु बहाते हुए एक दूसरी ने परस्पर गाढा लिङ्गन किया। हृदय से हृदय सटाकर उन्होंने चिरकाल की अपनी विरह व्यथा दूर की। दोनों के शरीर रोमाञ्चित हो रहे थे और दोनों ही परमानन्द सागर में निमग्न थीं।

तदनन्तर देवकीजी आँसू बहाती हुई यशोदाजी से मिलीं। सबसे यथायोग्य मिल भेंटकर यशोदाजी को सुन्दर,सुखकर आसन पर बिठाया गया और फिर आँसुओं को पोंछती हुई संकोच और शिष्टाचार के साथ अस्पष्ट वाणी से शनैः शनैः देवकीजी कहने लगीं—"व्रजेश्वरि! हम क्या कहकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करें। जीजी! सच्ची बात तो यह है कि तुमने हमें मोल ले लिया। तुमने जैसा हमारे साथ उपकार किया है, उसका बदला हम अब

तो दे ही क्या सकते हैं, यदि इन्द्र का ऐश्वर्य भी हमे प्राप्त हो जाय, तो भी हम तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं कर सकेंगे।"

यशोदाजी ने कहा—"सनी ! भला, अपनों से भी ऐसी शिष्टाचार की बाते कही जाती हैं। उपकार आदि तो दूसरे करते हैं, घर वाले तो कर्तव्य पालन किया करते हैं।"

देवकीजी ने कहा—"जीजी ! यह तो तुम्हारा कहना सत्य ही है, किन्तु घर वाले भी विपत्ति के समय जो कुछ करते हैं, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। सम्पत्ति में तो सभी सगे सम्बन्धी सहानुभूति दिखाते हैं। विपत्ति मे जो साथ दें वे ही सच्चे सगे सम्बन्धी हैं। देवी ! आपने ऐसे समय हमारा साथ दिया, जब हमारा कोई सहायक नहीं था। सभी सगे सम्बन्धी साथ छोड़ गये थे। हम असहाय थे, कंस के कारावास में थे। इन राम और कृष्ण ने अपने जन्मदाता माता-पिता को देखा तक नहीं था। तब तुमने इनकी अत्यन्त लाड-प्यार से उसी प्रकार रक्षा की जैसे पुतलियों की पलक रक्षा किया करते हैं। इनके यथार्थ माता-पिता तो तुम ही हो। तुमने ही इन्हें दूध पिलाया, गोदी मे लेकर खिलाया, प्रेमपूर्वक लालन-पालन, प्रीणन और पोषण किया। तुम सदा इनके अभ्युदय की बातें सोचती रही। तुम्हारे ही कारण ये इतने बडे हो गये। व्रज मे रहते हुए इन्हें कंसादि का कुछ भी भय नहीं रहा। तुमने कभी स्वप्न मे भी यह अनुभव नहीं किया, ये मेरी कोख के पुत्र नहीं है। सगे पुत्रों की भाँति तुमने इनकी रक्षा की। जो क्षुद्र हृदय के पुरुष होते हैं, उनके ऐसे विचार होते हैं कि यह मेरा है या पराया है, किन्तु जो उदार चरित है, विशाल हृदय के हैं, उत्तम पुरुष हैं उनकी दृष्टि मे तो वह भेदभाव रहता ही नहीं। इसलिये ये रामकृष्ण तुम्हारे ही बच्चे हैं, तुम्हारी कृपा से ही हमें भी ये देखने को मिले हैं।"

यह कहकर देवकीजी ने समीप में बैठी हुई बहुओं से कहा—"बहुओ! तुमरी सास ये ही हैं, तुम इनके पाइन लगो।"

यह सुनकर बड़ी होने से सर्वप्रथम रेवतीजी यशोदाजी के पायँ लगने आयीं। यशोदाजी ने कहा—"बेटी! तुम्हारी बड़ी आयु हो, बूढ़ बूढ़ैली हो। बेटा, नाती, पंतियों से घर भर जाय।"

देवकीजी ने कहा—"यह तुम्हारे बड़े बेटा की बहू है।"

यशोदाजी ने कहा—"यह बलुआ की बहू है? अच्छा, यह तो बड़ी अच्छी है। रेवतीजी ने अपने पति के बलदेव, बलराम, सङ्कर्षण, शेष, राम तथा बलदाऊ ये नाम तो सुने थे, किन्तु बलुआ नाम नहीं सुना था, अतः वे सुनकर हँस पड़ीं।"

फिर रुक्मिणीजी आयीं। अबके रोहिणीजी स्वयं ही बोलीं "यह कनुआ की बहू है।" यह सुनकर सब रानियाँ खिल खिला कर हँस पड़ीं। फिर सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या, कालिन्दी तथा और भी रानियाँ आ-आकर पाँय लगने लगीं। यशोदाजी ने पूछा—"ये किनकी बहुएँ हैं?"

रोहिणीजी ने कहा—"ये सब तुम्हारे कनुआ की बहू हैं।"

यशोदाजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा, कनुआ ने बहुत ब्याह किये हैं।"

हँसकर रोहिणीजी बोलीं—"जीजी! अभी देखती तो चलो। वे सामने जो झुण्ड की झुण्ड बैठी हैं, सब तुम्हारे कनुआ की ही बहुएँ हैं। पूरी सोलह सहस्र एक सौ आठ हैं।"

यशोदाजी ने संतोष के साथ कहा—"अच्छा है, बहुत-सी बहुएँ बड़े भाग्य से मिलती हैं।" फिर बहुओं से कहने लगीं—"बेटियो! यहाँ से कर लो। मैं तुम्हारी सास नहीं हूँ, सास तो तुम्हारी ये ही हैं। मैं तुम्हारे पति की धाय हूँ। बालकपन में मैंने उसे दूध पिलाया है, तुम्हारी सास के आँचल में दूध की कमी थी। जब बड़ा हुआ तो अपनी माँ के पास आ गया। अब तुम

मुझे अपने बच्चो को खिलाने के लिये नौकर रख लो। तुम्हारे बच्चो को, तुम्हारी बहुओं के बच्चों को खिलाया करूँगी। तुम सब एक एक टुकडा भी रोटी मुझे दे दिया करोगी, वही मेरे लिये बहुत है।"

रोहिणीजी ने कहा—"हाय! जीजी! ऐसे नहीं कहते हैं। यह सब वैभव तुम्हारा ही तो है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! रोहिणीजी तथा देवकीजी से यशोदाजी ऐसी बाते कर रही थीं, गोपिकायें चुपचाप बैठी सुन रही थी। वे भगवान की राजकुमारी पत्नियो को देखकर आश्चर्य कर रही थीं। वे सोच रही थीं, भगवान् इन राजकुमारियो को पाकर हमें सर्वथा भूल ही गये होंगे। हम गाँव की गँवार ग्वालिनी हैं। हममें न रूप है न गुण। ये सबकी सब रूपवती, गुणवती और शीलवती हैं। इन्होंने अपनी सेवा से श्यामसुन्दर को वश में कर लिया होगा। श्यामसुन्दर हमे भले ही भूल जायँ, किन्तु हम तो उन्हे नहीं भूल सकतीं। चन्द्रमा के लिये कुमुदिनी असख्यों हैं, किन्तु कुमुदिनियों के लिये तो चन्द्रमा एक ही है। हमारी तो श्यामसुन्दर ही गति मति हैं। यहाँ तो इनके बडे ठाट बाट हैं। सिपाही है, पहरेवाले है, इतनी झुण्ड की झुण्ड रानियाँ हैं। इनके सामने प्रेम की बातें होती नहीं। इनके सामने हम तो बोल भी न सकेंगी, हमारा मुँह भी न खुलेगा। इनके सम्मुख सकोच होता है। भोजन भजन और हार्दिक भाव प्रदर्शन एकान्त मे ही उत्तमता से होते हैं। किन्तु यहाँ श्यामसुन्दर को एकान्त कहाँ मिलेगा। सब समय तो उनके पीछे पीछे प्रहरी घूमते रहते हैं। यदि कहीं एकान्त मे श्यामसुन्दर मिलते, तो उनसे दो दो बातें होती। अपने दुख सुख की बाते कहती। उनकी निष्ठुरता के लिये उपालभ देती। वे हमे तनिक-सा सुख देकर अब यहाँ आकर राजा बन गये। उनका खेल हुआ हमारा मरण हो रहा है। हमे

रोग सा लग गया। रात्रि दिन उन्हीं की मनोहर मूर्ति हृदय पटल पर नाचती रहती है, उन्हीं की स्मृति विकल बनाये रहती है। यदि एकान्त मे कुछ बातें हो जायँ तो हृदय का आवेग निकल जाय, चित्त कुछ हलका हो जाय।

गोपिकायें ये ही सब बातें सोच रही थीं, घट घट की जानने वाले सर्वान्तर्यामी प्रभु उनके भावों को ताड गये। अतः वे एकान्त मे जाकर अपनी परम प्रेयसी गोपियों से मिले। अब जैसे गोपिकाओं का और श्रीकृष्ण का मिलन होगा उस कथा प्रसग को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

लखि वैभव व्रजबाल बहुत मन महँ सकुचावें।
सोचें—कब एकान्त ठाँव महँ हरि कूँ पावें॥
अति रहस्यमय बात होहि नहिं सबके सम्मुख।
निभृत निकुञ्जनि माँहि मिलहि प्रिय तब होवे सुख॥
समुझि भाव भगवान् पुनि, सबतैं निरजन थल मिले।
गाढ़ालिङ्गन कर्‌या हरि, चन्द्रानन सबके खिले॥

गोपियों की भगवान् से भेंट

[११७३]

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टम्
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८२ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

सकुची सहमी सखी श्याम सकोच छुड़ायो ।
मधुर मधुर मुसकाइ करनि मुख अधर उठायो ॥
पूछें—का रिस भई न हौं फिरि व्रजमहँ आयो ।
जो नहिँ चाहौं करन भाग्यने सो करवायो ॥
है प्रारब्ध अधीन सब, सुख दुख अरु बिछुरन मिलन ।
सार यही संसार महँ, मोमें थिर ह्वै जाइ मन ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकाओं को बहुत दिनों से श्री कृष्णचन्द्रजी के दर्शनों की लालसा थी । व्रज में वे भगवान् की मधुर मूर्ति का दर्शन करते समय पलकों का व्यवधान पड़ने पर पलकों के बनाने वाले ब्रह्मा बाबा को कोसती थीं । आज उन्हीं भगवान को जब कुरुक्षेत्र में देखा, तो वे उन्हें अपने नेत्रों द्वारा हृदय में ले जाकर गाढ़ालिंगन करने लगीं । इस प्रेम के कारण उन्होंने श्री कृष्णचन्द्र भगवान का वह तादात्मभाव प्राप्त किया जो नित्य अभ्यास करने वाले योगियों के लिये भी दुर्लभ है ।"

जिनके साथ चिरकाल तक रहे हैं, जिनके साथ सरस, सुखद क्रीडायें की हैं, वे यदि हमसे पृथक् हो जाते हैं, तो उस समय हृदय मे कैसी पीड़ा होती है, उसका अनुभव भुक्तभोगी के अतिरिक्त कोई अन्य कर ही नहीं सकता। संयोगवश वह फिर मिल जाय और मिले ऐसी परिस्थिति मे कि जिससे उससे खुलकर बातें न कर सकें, न अपना दुख-सुख सुना सकें और न उसका दुख सुख सुन सके तो ऐसे मिलन से तो वियोग ही श्रेष्ठ है। वियोग में यह तो संतोष रहता है कि वे नहीं हैं। इस अधकचरे संयोग से तो हृदय जलता रहता है, बारम्बार क्रोध आता है, खीज होती है, चित्त चाहता है उससे कभी न बोलें। किन्तु रहा नहीं जाता इसी ताड़ मे रहते हैं कहीं क्षण भर को भी मिल जायँ तो अपनी खीज तो मिटा लें। प्रेम का पंथ कैसा अटपटा है, इसमे कितनी विवशता है, कितना संकोच है, कितनी गुत्थियों को सुलझाना पडता है। यदि प्रेम का पंथ इतना दुर्गम न होता तो सभी प्रेमी न बन जाते। किसी ने इसे मोम के तुरंग पर चढ़कर अग्नि मे जाना बताया है, किसी ने इसे खड्ग की धार, किसी ने अगाध समुद्र, किसी ने बिना सिर का शरीर और किसी ने लोक वेद बाह्य मार्ग बताया है। इसका पूर्ण निर्वाह तो ब्रज की गोपियों ने ही किया है। इसीलिये कवि ने गाया है "गोपी प्रेम की ध्वजा"।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिन गोपियों के मन को मनन करने के लिये माधव मदनमोहन की मधुर मनोहर मूर्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं थी। जिन्होंने अपना तन, मन, प्राण तथा सर्वस्व श्यामसुन्दर के चरणों मे ही समर्पित कर रखा था। जिनके चित्त को चितचोर के अतिरिक्त कोई चिन्तनीय पदार्थ नहीं था। जो पलभर भी अपने प्रियतम का वियोग सहन करने में समर्थ नहीं थीं, जो पलकों के व्यवधान से ही तिलमिला उठती थीं। उन श्यामसुन्दर को जब उन्होंने कुरुक्षेत्र में सबके सम्मुख

देखा, तो लोक-लाजवश उनका प्रत्यक्ष आलिंगन तो कर नहीं सकती थीं। वे नेत्रों के द्वारा नन्दनन्दन की मनोहर मूर्ति को अपने

हृदय में ले गयीं और वहीं उनका भावनामय आलिंगन करने लगीं। भगवान् की मनोमयी मूर्ति के स्पर्श और आलिंगन से उनके

रोमाञ्च हो रहे थे,वे प्रेम में अधीर बनी हुई थीं। भगवान् उनकी ऐसी दशा देखकर द्रवीभूत हुए। उन्होंने उनको एकान्त में मिलने का अवसर दिया। जहाँ अन्य कोई भी नहीं था ऐसे एकान्त स्थान में जाकर उनका गाढालिङ्गन किया फिर उनकी कुशल पूछी। गोपिकाओं ने लज्जा और सकोचवश कुछ भी उत्तर नहा दिया। उनकी नेत्रों के कोर से टप टप करके आँसू गिर रहे थे। वे श्यामसुन्दर से दृष्टि नहीं मिला सकती थीं।

विषय को अत्यन्त कारुणिक तथा गम्भीर होते देखकर हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"क्यों गोपियो ! हमसे अप्रसन्न हो क्या ?"

इस पर आँसू पोंछते हुए एक गोपी ने कहा—"महाराज ! हम क्या अप्रसन्न होंगी ? हमारा क्या अधिकार है, हम आपकी कौन होती हैं ?"

हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"ये सब अप्रसन्नता की तो बातें ही हैं। अब मैं कैसे अपनी निर्दोषता सिद्ध करूँ। सत्य कहता हूँ, मैं मथुरा केवल इसी उद्देश्य से गया था कि अपने स्वजनों को-बन्धु बान्धवों को सुखी करूँ। समस्त यादवों को कंस बड़ा क्लेश दे रहा था, उससे हमारा जाति वाले सभी दुखी थे इसलिये उसे मैंने भरी सभा में मार डाला। उसे मार क्या दिया, माना सभी से मैंने बैर माल ले लिया। बहुत से हमारे शत्रु हो गये। उन सबसे लड़ाई भिड़ाई होती रही। आज यहाँ जा, कल वहाँ जा इस प्रकार जब से गया हूँ, तब से अब तक बड़े झंझटों में फँसा रहा। इसीलिये ब्रज भी नहीं आ सका। तुमसे भेंट भी न कर सका। बहुत दिनों का व्यवधान होने से मैत्री शिथिल पड़ जाती है, किन्तु मैं तो निरन्तर तुम्हारा स्मरण किया करता हूँ। क्या तुम भी कभी मेरी याद करती हो।"

इस पर एक प्रेम के कोप में बोली—"महाराज ! आपकी याद

या तो वह कुबरी करती होगी या ये सोलह सहस्र एक सौ आठ राजकुमारियाँ करती होंगी। हमसे आपका क्या सम्बन्ध ? हम भला आपकी याद क्यों करने लगीं। हम तो चाहता है आपका कभी स्मरण न हो। पुरानी स्वप्न की बातों को भूल जावें। हमारे पास न रूप है न, विद्या, न कोई और गुण ही। आपको प्रसन्न करने का हमारे पास कोई साधन ही नहीं है।"

भगवान् ने अत्यंत ममता के साथ कहा—"तुमने जमी सवाये की हैं, वैसी तो कोई संसार में कर ही नहीं सकता, किन्तु मैं उसका कुछ भी प्रत्युपकार न कर सका। इससे तुम मुझे कृतघ्न अवश्य ही समझती होगी। तुम आपस में मेरी अकृतज्ञता की बातें कर-करके मुझे अवश्य ही भला बुरा कहती रहती होगी, किन्तु देखो, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। हम सब भाग्य के अधीन हैं। भगवान् ही जीवों का परस्पर में संयोग कराते हैं और वे ही सबको जब चाहें पृथक् करा देते हैं। सब देवाधीन होकर बर्ताव कर रहे हैं। मेरी इच्छा नहीं थी, मैं कभी तुमसे पृथक् होऊँ, किन्तु भाग्य ने हमको एक दूसरे से दूर हटा दिया। संसार में सदा कौन मिला रहता है, जो मिलता है, वह बिछुरता है। मिलना बिछुरने के ही लिये तो है। आकाश में मेघ एक दूसरे से आकर मिल जाते हैं, जहाँ प्रबल वायु चली तुरन्त छिन्न भिन्न हो जाते हैं, कहीं के कहीं हो जाते हैं। खेत में न जाने कहाँ कहाँ के बीज आकर उत्पन्न होते हैं। पकने पर कोई बीज किसी के पेट में चला जाता है, कोई किसी के। सब इधर उधर हो जाते हैं। गुरुकुलों में पाठशालाओं में कहाँ कहाँ के छात्र पढ़ने आते हैं, सब कितने प्रेम से हिलमिल कर पढ़ते हैं। पढ़ने के पश्चात् सबको प्रारब्ध उन्हें पृथक्-पृथक् पटक देते हैं। सब कहीं के कहीं हो जाते हैं। नदी के वेग में कितने तिनके बहते हैं। कुछ बहते बहते आपस में मिल जाते हैं, कुछ दूर तक साथ-साथ बहते हैं। फिर कोई प्रारब्धवश

लहर आती है कि सब बारह बाट हो जाते हैं। कोई कहीं बह जाता है कोई कहीं। आँधी में कितने पत्ते एकत्रित हो जाते हैं। फिर एक आँधी का प्रबल झोंका आया सब तितिर-बितर हो गये। मरुभूमि में बालू के कैसे टीले बन जाते हैं। कहाँ कहाँ के कण एकत्रित होकर परस्पर में सट जाते हैं, दूसरे दिन वायु चली फिर उन बालू के टीलों का नाम भी नहीं रहता। वे बालु के कण कहीं के कहीं उड़ जाते हैं। एक साथ आकर दूर-दूर के पशु जङ्गलों में घास चरते हैं। सायंकाल हुआ कोई कहीं चला गया, कोई कहीं। नौका में कहाँ कहाँ के लोग आकर साथ बैठ जाते हैं। नदी के साथी बन जाते हैं। जहाँ पार हुए, कोई कहीं चला गया, कोई कहीं। आक की बौंडी में रुई के बबूले साथ बढ़ते हैं। जहाँ बौंडी पकी तहाँ वे बबूले वायु में उड़ने लगते हैं कोई कहीं उड़ जाता है कोई कहीं। फिर वे कभी एक बौंडी में आकर एकत्रित नहीं होते। फूल एक साथ वाटिका में खिलते हैं। खिलने पर माली तोड़ता है। कोई देवता पर चढ़ते हैं, कोई कामिनी के कंठ का हार बनते हैं। कोई मसले जाते हैं, कोई पीसे जाते हैं, कोई परदेश भेज दिये जाते हैं। वेलों पर, वृक्षों पर फल साथ पैदा होते हैं। टूटने पर प्रारब्धवश कहीं के कहीं हो जाते हैं। इसी प्रकार श्री भगवान् प्राणियों का बार-बार एक दूसरे से संयोग कराते हैं वियोग कराते हैं, फिर कालान्तर में मिला देते हैं। अब देखो, हम तुमसे पृथक् हो गये थे। भाग्य ने फिर हमें मिला दिया। फिर हम एक दूसरे से मिलकर सुखी हुए।

संसार में जिससे भी प्रेम करो वही बन्धन का कारण बन जायगा। मृग से प्रेम करो मृग होना पड़ेगा। पत्नी से प्रेम करो तो दूसरे जन्म में फिर पति बनना होगा। पुत्र से प्रेम करो, तो फिर तुम्हें पुत्र बनना होगा। सारांश यह है कि जिससे प्रेम करोगे उसी के बन्धन में बँधना होगा। एक मेरी ही प्रेमा भक्ति है जो

भगवान् के स्वरूप मे तल्लीन हो गयीं। तन्मय हो जाने से वे सब सुधि बुधि भूल गयी। उनकी ऐसी विचित्र अलौकिक दशा देख कर भक्तवत्सल भगवान् को बडी ही करुणा आयी। उन्होंने सोचा—"इन्हे परिव्राज सन्यासियो की दुर्लभ गति दे दूॅ। देह बन्धन से विमुक्त बना दूँ। अत उन्हे झकझोर कर भगवान् कहने लगे—"गोपियो! तुम किसका ध्यान कर रही हो? अच्छा, तुम मुझसे कोई उत्तम से उत्तम वर मॉग लो।"

यह सुनकर सबकी सब एक स्वर मे कहने लगीं—"हे कमलनाभ! आप यदि हमे वर देना चाहते हैं, तो एक वर दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"वह कौन सा वर? तुम सकोच छोडकर उसे मॉग लो।"

गोपियो ने कहा—"आपने अभी कहा है कि मैं अगाध बोध हूॅ, परम ज्ञान सम्पन्न हूँ, योगियो द्वारा मेरा हृदय कमल में चिन्तन किया जाता है तथा ससार कूप मे पतित प्राणियों का मैं उद्धार करने वाला हूॅ। में ही सबका एक मात्र अवलम्ब हूॅ। हम आपकी इन बातों का अविश्वास नहीं करतीं। आप कहते हैं, तो आप अवश्य होंगे। आप निर्विकार, निराकार रूप से योगियों और परमहसो द्वारा अवश्य चिन्तन किये जाते होंगे, किन्तु हम तो घर में रहने वाली गृहस्थिनी गॅवारिनि गोपिकायें हैं। इसलिये हमारी तो आपसे प्रार्थना यही है, कि ये कमलो के सदृश कोमल गुदगुदे सुगधियुक्त आपके प्रलम्ब चारुचरण निरन्तर हमारे हृदय में चिन्तामणि के सदृश प्रकाशित होते रहें। इनके दर्शनों के लिये हमें किसी अन्य आलोक की आवश्यकता न रहे। ये साकार चरणारविन्द हमारे मनमदिर में सतत स्थापित रहे आवें। हम अहर्निशि इनकी पूजा अर्चा में ही लगी रहें। यही हमारा वर है, यही हमारी भिक्षा है और यही हमने आपकी शिक्षा-दीक्षा का

सार समझा है। हम श्री वृन्दावन मे ही पडी रहें। वहीं आपका चरणारविन्द हमारे हृदयों मे चमकता रहे, ऐसा वर आप हमे दें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! गोपियो के ऐसे प्रेम को देखकर भगवान् पानी पानी हो गये। गोपियो के एक मात्र गुरु उनके सर्वस्व उन गोपीजनवल्लभ भगवान् ने उन सब गोपियो के ऊपर कृपा की। वे इस प्रकार प्रेम की बातें कर ही रहे थे, कि रुक्मिणी ने आकर कहा—"आप यहाँ बैठे बातें कर रहे हैं, धर्मराज कबसे आपकी प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं।"

अब भगवान का ध्यान भग हुआ। रस भग हो गया। उन्होंने कहा—"अच्छा, चलता हूँ।" तुरत उन्होंने गोपियो से कहा—"अच्छी, बात है, अभी तो हम यहाँ बहुत दिन साथ रहेंगे, फिर बाते होंगी।" यह कहकर सबसे प्रेमपूर्वक मिल भेंट कर भगवान धर्मराज युधिष्ठिर से मिलने आये। अब धर्मराज से जैसे भगवान् की भेंट होगी, उस कथा प्रसङ्ग को आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

भरि नयननि जल कहें गोपिका हरि तुम ज्ञानी।
का समुझें हम योग ज्ञानयुत तुमरी बानी॥
कीयो जो उपदेश साँच हम ताकूँ मानें।
किन्तु न जसुमति तनय छाँडि हम जग कछु जानें॥
वरदाता! वर देहु जिह, जाइ न हमरी अनत मति।
तव मूरति हिय महँ बसै, चरन कमल महँ होहि रति॥

धर्मराज युधिष्ठिर से भेंट

[११७४]

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८३ अ० १ श्लोक)

छप्पय

करी कृपा करुनेश सबनिकूँ धीर बँधायो ।
धरमराजने दरश हेतु सन्देश पठायो ॥
गोपिनिकूँ करि विदा द्वारपै यदुवर आये ।
करि स्वागत सत्कार नृपति पांडव बैठाये ॥
कुशल क्षेम पूछी तबहि, कहहिँ धरमसुत नयन भरि ।
भई कुशल अब दयामय ! तव चरननिके दरश करि ॥

जब अधिक पुण्यों का उदय होता है तब भगवान् के तथा भगवद्भक्तों के दर्शन होते हैं। शरीर स्वस्थ रहे, धन धान्य यथेष्ट आता रहे, इतनी ही कुशल नहीं है। यथार्थ कुशल तो यह है, कि भगवान् के दर्शन हो जायँ, भगवान हमें अपना लें। आत्मीय करके स्वीकार करलें। भगवान् ने जहाँ हमें अपनाया, जहाँ

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपियों के गुरु और उनकी एकमात्र गति भगवान् वासुदेव ने उन व्रजांगनाओं पर इस प्रकार कृपा की। फिर आकर अपने युधिष्ठिरादि समस्त बन्धु बान्धवों से उनकी कुशल पूछी।"

हम भगवदीय अथवा भागवत बन गये, तहाँ अकुशल रहती ही नहीं। सर्वत्र कुशल ही कुशल हो जाती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् गोपीजनवल्लभ गोपियों को सान्त्वना देकर उन्हें भली भाँति समझाकर बाहर आये। वहाँ पाचों पाडव प्रभु का प्रतीक्षा कर रहे थे। आते ही भगवान् प्रेमपूर्वक सबसे मिले। फिर भगवान् ने धर्मराज म पूछा—"कहो, भाई! अच्छे तो हो,हमारे और सब बन्धु बान्धव, सम्बन्धी अच्छी प्रकार हैं न?"

धर्मराज युधिष्ठिर का हृदय प्रेम के कारण द्रवित हो रहा था। भगवान् के चरणारविन्दो के दर्शन से वे अपने को परम पुण्यवान् अनुभव कर रहे थे, उनका मन परम प्रमुदित हो रहा था। कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। बड़े कष्ट से रुक रुककर बोले—"प्रभो! हम अपनी कुशल क्या कहें, अब तक चाहे हमारी कुशल न भी रही हो, किन्तु अब तो कुशल ही कुशल है।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"क्यों, अब क्या हो गया?"

धर्मराज ने कहा—"हो क्या गया, हमे मनुष्य जीवन का लाभ मिल गया। देव! यह जीव कब से इस ससार रूपी भवा टवी म भटक रहा है। यह भ्रमण क्रिया कभी समाप्त नहीं। एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा इस प्रकार जन्म के ऊपर जन्म होते रहते हैं। जीव अज्ञान के वशीभूत होकर चोरासी लाख योनियों मे भटकता रहता है, किन्तु उसका अज्ञान नाश नहीं होता। जब तक अज्ञान है, तब तक जन्म-मरण का चकर है। यह जन्ममरण का चक्र तभी समाप्त होगा जब इस प्राणी के कर्णपुटों मे महापुरुषों की वाणी द्वारा निकली हुई तुम्हारे चरणारविन्दो की कथा रूप सुधा भर जाय। उससे हृदय परिप्लावित हो जाय। जिन्होंने उस सरस सुधा का प्रेमपूर्वक पान किया है, उनका कभी अमगल नहीं हो सकता। वे जन्म

मरण के चक्र से सदा के लिये निकल सकते हैं। सो, देव ! हमने तो आपके अब प्रत्यक्ष दर्शन कर लिये हैं।"

भगवान् ने कहा—"धर्मराज ! अब इन बातों को तो रहन दो, अपने समाचार सुनाओ। आजकल राज्य की कैसी परिस्थिति है, दुर्योधनादि कौरवा का आपके साथ कैसा व्यवहार है।"

धर्मराज बोले—"मै क्या सुनाऊँ प्रभो ! आप सब जानते हैं, आप सर्वज्ञ तथा सर्वान्तर्यामी हैं। जब-जब ससार में अधर्म का वृद्धि होती है, तब तब आप अवतार लेकर दुष्टों का सहार और शिष्टा की रक्षा करते हैं। कालक्रम से नष्ट होते हुए वेदों का रक्षा करन के निमित्त आप अपनी योगमाया की सहायता से मनुष्यावतार धारण करते हैं। आप परमहसों की एकमात्र गति है, आप निजानन्दस्वरूप हैं, आप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओ से परे है। आप आनन्द से परिपूर्ण हैं, आप अखण्ड, अकुण्ठित और विज्ञानस्वरूप हैं, आपके चरणों में प्रणाम करने से ही हम सब ओर से निश्चिन्त हो गये हैं। दुष्टों का आप स्वय दमन करेंगे और शिष्टों का स्वय पालन करेंगे।"

भगवान ने कहा—"राजन् ! इस पृथ्वी पर राजाओं के रूप मे बहुत से असुर उत्पन्न हो गये हैं। जब तक उन सबका सहार न होगा, तब तक ससार में शान्ति स्थापित होना असम्भव है। अब मेरा विचार आपके पास कुछ दिन इन्द्रप्रस्थ आकर रहने का है।"

धर्मराज ने कहा—"तब तो हमारे भाग्य ही खुल जायँगे। प्रभो ! हम तो आपके यन्त्र हैं, हमसे तो आप जो भी करावेंगे वही करेंगे।"

भगवान बोले—"राजन् ! जब तक एक घोर युद्ध न होगा, तब तक शान्ति नहीं हो सकती। सर्वत्र राग, द्वेष, कलह और दम्भ का प्राबल्य हो गया है। प्रतीत ऐसा होता है, यह वसुन्धरा

रक्त की प्यासी हे। मुझे अनुभव हो रहा है, इसी कुरुक्षेत्र में निकट भविष्य मे एक महान् युद्ध होगा,जिसम भू का भार बने हुए बहुत से योद्धा नष्ट हो जायँगे। सैन्यशक्ति आवश्यकता से अधिक बढ गयी है। सब एक दूसरे को परास्त करना चाहते हैं। प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करने वाले वास्तविक राजा रहे ही नहीं। सब दस्यु लुटेरो की भाँति प्रजा को लूट रहे हैं। जब तक इनका सहार नहीं होता तब तक कोई भी सज्जन पुरुष सुख सतोष की साँस नही ले सकता। अच्छा, बताइये आप अकेले ही आय ? वृआ जी तो प्रात काल ही आयी थीं। द्रौपदी नही आयी।"

अर्जुन ने कहा—"वे भीतर चली गयी हैं।"

यह सुनकर भगवान हँस पडे और बोले—"सब लोग अपने समाज मे ही जाकर सुखी होते हैं। देखो, वे स्त्रियो में चली गयी।"

धर्मराज ने सहदेव से कहा—"सहदेव! तुम भीतर जाकर द्रौपदी को सूचित कर दो कि भगवान् आ गये हैं, वह आकर प्रणाम कर जाय।"

भगवान् ने शीघ्रता से कहा—"नहीं, नहीं, उन्हें यहाँ बुलाने की क्या आवश्यकता हे, मैं भीतर ही चला जाऊँगा। यहाँ सबके सम्मुख उन्हें सकोच भी होगा और मुझे तो भीतर बाहर कहीं सकोच नहीं। आप बैठें। मे भीतर होकर अभी आता हूँ।" यह कहकर भगवान् भीतर चले गये। वहाँ जाकर देखते हैं, कि स्त्रियो का बडा भारी समाज लगा हुआ है। सभी सुन्दर बहुमूल्य गलीचों पर बेठी हुई पान चबा रही हैं। नि सकोच बेठी हुई परस्पर मे हँस हँसकर बातें कर रही हैं। सबके बीच मे द्रोपदीजी बेठी हुई हैं। उन्हें घेरकर भगवान् की सोलह सहस्र एक सो आठ रानियाँ बेठी हें। द्रौपदीजी एक एक

रानी से बातें कर रही हैं। आपस मे बडी सरस मीठी-मी बातें हो रही हैं। उस समाज मे कोई भी बडी बूढी स्त्री नहीं जिससे किसी को सकोच हो। सब नई बहुएँ ही हैं। भगवान् भीतर जाते ही सभी ने शीघ्रता से अपना-अपना आँचल सम्हा लिया और उठकर खडी हो गयीं।

द्रौपदी ने लजाते हुए उठकर भगवान को प्रणाम किया रग मे भग हो गयी, सभी स्त्रियाँ सहम गयीं, सकपका गयीं

भगवान ने द्रौपदीजी से कहा—"कहो पाचाली ! अच्छी न ? मैंने असमय मे तुम्हारी बातों मे विघ्न डाला। मैं व ही मिलने चला आया। अब तुम आपस मे जो मीठी मीठी बा कर रही थीं वही करो। हम लोग बाहर बातें करते हैं। फिर भे होगी।" यह कहकर भगवान् तुरन्त उलटे पाँवों लौट गये भगवान् के लौटते ही सब फिर खिलखिला कर हँस पडी औ उनमे बातें होने लगीं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! द्रौपदीजी में और भगवा की पत्नियो मे क्या-क्या बातें हो रहीं थीं, उन्हे हम भी सुनन चाहते हैं। ऐसी क्या मीठी-मीठी बातें हो रही थीं।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! स्त्रियों और बातें ही क्या होगीं। उनकी बातों के तीन ही विषय हों हैं, या तो अपने पति के स्वभाव की बातें या अपने विवाह औ वस्त्राभूषण की बातें या घर गृहस्थी का रोना। वे आपस मे अपने अपने विवाह की बाते कर रही थीं। आप त्यागी महात्मा होकर विवाह फिवाह की बातों को सुनकर क्या करोगे ?"

शौनकजी ने कहा—"नहीं, सूतजी ! यदि ससारी लोगों के विवाह की बातें होतीं तो उन्हें हम कभी न सुनते। भगवान् की पत्नियाँ तो यही बता रही होंगीं कि भगवान् ने हमारे साथ कैसे विवाह किया। यह तो भगवत् कथा ही है। भगवान् के

विवाह की कथा सुनने से तो पाप कटते हैं आप हमें इस प्रसङ्ग को अवश्य सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! जब आपकी आज्ञा है, तो सुनाता हूँ। द्रौपदीजी ने जैसे सब रानियों से उनके विवाह के सम्बन्ध में प्रश्न किये और जैसे उन सबने उत्तर दिये उस कथा को मैं सुनाता हूँ आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

इत यदुनन्दन पाडुसुतनि सँग प्रेम दिखावें।
उत पाचाली प्रमुपत्निनि सँग मिलि बतरावें॥
निज विवाह की बात चलाई सब उकसाईं।
पूछें सबतें कह्यो कृष्ण तुम कस अपनाईं॥
रुक्मिनि! सत्ये! लक्ष्मणे! हे भद्रे! हे जाम्बवति!
सतभामे! रोहिनि कहो, अपनाईं ज्यों जगत्पति॥

द्रौपदीजी की श्रीकृष्ण पत्नियों से विवाह की बातें

[११७५]

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे , हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान् स्वयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥*

(श्री० भा० १० स्क ८३ अ० ६, ७ श्लोक)

छप्पय

कृष्णा तैं सब कहें व्याह की विहँसि कहानी।
सत अरु सोलह सहस आठ श्रीहरि की रानी॥
रुक्मिनि ने निज हरन सत्यभामा मनि चोरी।
जाम्बवती ने कही मिली हरि तैं ज्यों जोरी॥
कालिन्दी तप की कथा, सत्या ने वृष नाथिवो।
कह्यो मित्रविन्दा स्वयं, बलपूर्वक हथियायवो॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण पत्नियों से द्रौपदी जी पूछ रही हैं—"हे रुक्मिणि ! हे भद्रे ! हे जाम्बवती ! हे सत्ये ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि ! हे मित्रविन्दे ! हे रोहिणि ! हे लक्ष्मणे ! हे श्री कृष्णचन्द्र की अन्य पत्नियो ! तुम मुझे यह बताओ कि अपनी माया से ही साधारण लोगों का अनुकरण करने वाले भगवान् ने तुमसे किस प्रकार विवाह किया।"

स्त्री और पुरुषों के जीवन में अनेक सुखद और दुखद प्रसग आते हैं। बहुत से ऐसे प्रसग हैं जो समय पाकर विस्मरण हो जाते हैं। फिर उनका स्मरण ही नहीं रहता, किन्तु विवाह का एक ऐसा सरस प्रसग है कि वह कभी भूला नहीं जाता। दो हृदय आपस में जिस काल में मिलते हैं, वह काल तो चला जाता है, किन्तु दोनों ही हृदयों में अपनी अपनी मधुर स्मृति छोड़ जाता है। जैसे मिश्री खाते समय भी मीठी लगती है और उसकी जब याद आ जाती है, तब भी मुँह में पानी भर आता है, उसी प्रकार विवाह के समय तो वर-वधू को प्रसन्नता होती ही है, जब-जब उसकी स्मृति आ जाती है तब-तब हृदय में एक प्रकार की सरसता छा जाती है। यदि विवाह दोनों के अनुराग से दोनों के चाहने पर हुआ तब तो उसकी स्मृति अत्यन्त ही मधुर हो जाती है। स्त्री पुरुष परस्पर में मिलते हैं, तो मनोविनोद के लिये ऐसा सरस सुखद प्रसग छेड़ते हैं, जिससे अतीत की सुखद स्मृतियाँ जागृत हो उठें। मन में मधुरता उत्पन्न हो जाय। इसलिये पति पत्नी के मिलन का सुखद प्रसग छेड़कर समवयस्क स्त्री पुरुष अपना मनोरजन करते हैं। उत्सव पर्वों पर जो परस्पर में सम्मिलन होता है, वह ऐसे ही प्रेम प्रसगों से तो सुखद बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्रौपदीजी भगवान श्रीकृष्ण चन्द्रजी की पत्नियों से प्रेमपूर्वक हृदय से हृदय सटाकर मिलीं। फिर आपस में कुशल समाचार पूछे। रुक्मिणीजी द्वारा पहिले तो पूछा—"इनके के लड़के हैं, इनके के लड़के हैं?"

हँसकर रुक्मिणीजी ने कहा—"हमारे वे तो पक्तिभेद करना जानते ही नहीं। जैसे विवाह आदि के परोसा में सबको च लड्डू आठ आठ कचोडियाँ दी जाती हैं, बस ही हम स दस लड़का और एक एक लड़की है। अन्तर इतना ही

पाच पति हैं, पाँच लडके हैं, हमारे एक पति हैं, सबके दस दस लडके हे।'

हसकर द्रोपदाजी बोली—"फिर तुम सब हो भी तो जगत् पति का पत्नी। हमसे वढकर तो होनी ही चाहिये। अच्छा, मैं यह पूछना चाहती हूँ कि तुम्हारा भगवान् के साथ केसे विवाह हुआ। तुमने अपनी इच्छा से भगवान् के साथ विवाह किया या भगवान् तुम्हे वलपूर्वक पकड लाये। तुम सभी मुझे अपने अपने विवाह की वात सुनाओ।"

यह सुनकर उनमें से लक्ष्मणा बोली—"जीजी! पहिले तुम हम अपने विवाह की वात सुनाओ। तुम्हारा पाँचों पाडवों के साथ विवाह केसे हुआ ?"

यह सुनकर सकुचाती हुई द्रौपदी बोली—'बहिनो! मेरे विवाह का वृत्तान्त वडा विचित्र हे। मैं किसी मानवाय स्त्री के उदर से उत्पन्न नहीं हुई हूँ। मैं अयोनिजा हूँ, मेरा जन्म अग्नि कुण्ड से हुआ हे। जब मैं वडी हुई तो मेरे पिता महाराज द्रुपद ने मेरा विवाह पाडवों मे मझले गाँडीव धनुर्धारी के साथ करना चाहा। तब पाडव गुप्त रूप से रहते थे। मेरे पिता ने एक कृत्रिम मत्स्य बनाया और प्रण किया इसे जो वेध दे वही मेरी कन्या का पति हो। साधुवेष मे गाडीव धनुर्धारी भारत ने वह मत्स्यवेध किया। वे मुझे लेकर गये। मेरी सास ने भीतर से ही कह दिया—"भिक्षा में आज जो तुम्हे वस्तु मिली हे पाँचो बाँट लो। फिर वेद व्यास भगवान् ने आकर पूर्वजन्म की बातें बताईं और कहा पाचाला पाँचो ही पाडवा की पत्नी होगी, इसे कोई अन्यथा कर नहा सकता। भवितव्यता के आगे सबने सिर झुका दिया मैं पाँचा का पत्नी हुई। अब तुम सब मुझे अपने अपने विवाह का बातें सुनाओ। सबसे पहिले रुक्मिणी जानी ही सुनावें।'

यह सुनकर रुक्मिणाजी बोलीं—"मेरा भी भगवान् से विवाह

विचित्र रीति से ही हुआ। मैंने सर्वप्रथम नारदजी के मुख से भगवान की प्रशंसा सुनी थी। तभी से उनका रूप मेरे मन में बस गया। मेरे पिता ने मेरी सगाई मेरी इच्छा के विरुद्ध शिशुपाल से कर दी। बरात भी आ गयी। अनुराग समझकर भगवान् तुरन्त मेरे पिता के पुर में आये। और राजा भी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर समर करने की लालसा से आये थे। देवी पूजा से निवृत्त होकर मैं ज्योंही निकली त्योंही भगवान् मुझे रथ पर चढ़ाकर चल दिये। यह देखकर नृपतिगण धनुषों पर बाण चढ़ाकर युद्ध करने के निमित्त उद्यत हुए। मेरे प्राणनाथ किसी से कम नहीं थे। वे बड़े-बड़े अजेय वीरों के मणिमय मुकुटों से सुशोभित मस्तकों पर अपने चरण रखकर ये गये वे गये। सब देखते के देखते ही रह गये। उनके चरणारविन्दों से गिरे हुए परागकण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मणियों के कण बिखर रहे हों। जैसे बकरियों के झुण्ड से बाघ अपने भाग की बकरी को निर्भय होकर उठा ले जाता है, जैसे सहस्रों भेड़ों में से भेड़िया जिस भेड़ को चाहता है ले जाता है, जैसे सिंह सियारों के बीच से अपने भाग को लेकर चलता बनता है उसी प्रकार हमारे लक्ष्मी-निवास उन उतने बलदर्पित राजाओं के बीच से मुझे उठा ले गये। सब टुम्म-टुम्म देखते के देखते ही रह गये। सबकी सिटिल्लियाँ भूल गयीं, कोई चूँ भी न कर सका। अपनी पुरी में लाकर मेरे साथ विवाह करके मेरी मनोकामना पूर्ण की। इन अच्युत की मैं सदा से दासी रही हूँ, अब भी हूँ और जन्मजन्मान्तरों में भी सदा रहूँगी। तुम ऐसा आशीर्वाद दो कि इन पुनीत पादपद्मों की मैं सदा प्रेमपूर्वक पूजा करती रहूँ।" यह कहकर रुक्मिणीजी चुप हो गयीं।

तब द्रौपदीजी बोलीं—"अच्छा, बहिन! सत्यभामा! तुम भी सुनाओ अपने विवाह की बात।"

यह सुनकर सत्यभामा लजा गयी, उसने संकोच के साथ कहा—"मेरा नया समाचार मुझे तो मेरे पिता ने अपना कलंक मिटाने के लिये भगवान् को दिया था। बात यह थी, मेरे पिता के पास एक स्यमंतक मणि थी, उनके भाई उसे पहिनकर वन में गये। वन में एक सिंह ने उन्हें मार डाला। मेरे पिता अपने छोटे भाई के न आने से दुखी थे। उसी दुख के आवेग में कहीं उन्होंने कह दिया कि मेरे भाई को सम्भव है भगवान् ने मार दिया हो। भगवान् ने जब यह बात सुनी तो अपने मिथ्या कलंक को दूर करने के निमित्त वन में गये और बहिन जाम्बवती के पिता ऋक्षराज जाम्बवान् को जीतकर उनसे मणि लाकर मेरे पिता को दी, इस प्रकार उन्होंने अपना मिथ्या कलंक मिटा दिया। उनका कलंक तो मिट गया, किन्तु मेरे पिता के सिर पर उलटा कलंक का टीका लग गया। मेरे पिता डर गये, सोचते-सोचते उन्होंने यही निर्णय किया कि मैं अपनी पुत्री का विवाह श्यामसुन्दर से कर दूँ, तो मेरा यह कलंक दूर हो जायगा। यद्यपि मेरे पिता ने मेरी सगाई किसी दूसरे के साथ कर दी थी। कन्या तो पिता के अधीन होती है। पिता जिसके हाथ में उसका हाथ पकड़ा देता है, उसी के साथ वह चली जाती है। जब मैंने सुना मेरे पिता मुझे श्यामसुन्दर को देना चाहते हैं, तो मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। मेरे पिता ने जिनके साथ सगाई की थी, उन्हें न देकर इन सर्वसमर्थ श्यामसुन्दर के ही चरणों में मुझे समर्पित कर दिया। आगे की कथा अत्यन्त कारुणिक है। उसे अब न कहूँगी।" यह कहकर सत्यभामा के नेत्रों से आँसू झरने लगे वे मुख ढाँपकर रोने लगीं।

तब द्रौपदीजी ने जाम्बवती से पूछा—"बहिन तुम्हारा विवाह कैसे हुआ ?"

जाम्बवती बोली—"जीजी ! मेरे पिता चिरजीवी हैं। श्रीरामावतार में मैंने इन श्यामसुन्दर को जब देखा, तभी मैंने इन्हें आत्म-

समर्पण कर दिया। उन दिनों ये सुन्दर तो इतने ही थे, किन्तु उस सौन्दय रस के आस्वादन का एकमात्र अधिकार भगवती जनकनन्दिनी को ही सौंप रखा था। मेरे पिता ने प्रार्थना भी की "प्रभो! मेरी पुत्री आपकी ही दासी बनना चाहती है, इसे आप अपनावें।"

उस समय भगवान् बोले—"मुझसे भूल हो गयी, इस अवतार में मैंने एक पत्नी व्रत का ही नियम ले रखा है। अच्छी बात है, दूसरा जब में प्रेमावतार लूँगा, तब तुम्हारी पुत्री को अपनाऊँगा। तभी से मैं इस सरस अवतार की प्रतीक्षा कर रही थी। मेरे पिता गुहा में रहते थे। सिंह को मारकर वे उससे स्यमन्तक मणि छीन लाये। उस मणि को खोजते-खोजते श्यामसुन्दर हमारी गुहा में पहुँचे। मेरे पिता को अपने बल का बड़ा अभिमान था। वे भगवान् को पहिचान न सके कि ये ही मेरे स्वामी राम ही कृष्ण का वेष बनाकर मणि खोजने आये हैं। मेरे पिता इनसे सत्ताईस दिनों तक लड़ते रहे। उस युद्ध में भगवान ने मेरे पिता को मारा तो नहीं किन्तु उनके दर्प को मिटा दिया। अब मेरे पिता को ज्ञान हो गया कि ये मेरे स्वामी भगवान राघवेन्द्र ही हैं। फिर क्या था, रोष का स्थान प्रेम ने ग्रहण कर लिया। मेरे पिता प्रभु के पादपद्मों में प्रणत हो गये मुझे अर्घ्य रूप में उन्हें अर्पण किया और दहेज में वह मणि दी। इस प्रकार प्रभु ने मेरी चिरकाल की अभिलाषा पूर्ण की। अब मैं उनके चरणों की एक तुच्छ दासी हूँ।"

तब द्रौपदीजी सूर्यतनया कालिन्दीजी से बोलीं—"बहिन! तुम भी सुनाओ अपनी कथा।"

कालिन्दी ने कहा—"जीजी! मैं अपने को इस योग्य तो समझती नहीं थी कि भगवान् की पटरानी बन सकूँ, किन्तु मेरी इच्छा तो थी कि मुझे भगवान् के भवन का कैंकर्य मिल-

इसके लिये यमुना के भीतर अपने पिता के बनाये एक भवन में तपस्या किया करती थी, मेरे अभिप्राय को समझकर श्रीहरि ने अपने सखा-तुम्हारे पति-श्री अर्जुन के द्वारा मुझे बुलाया। मुझे अपने चरण स्पर्श की इच्छा वाली समझकर अपनाया और मेरा पाणिग्रहण किया। जीजी! मैं रानी फानी तो हूँ नहीं। भगवान् के भवन की भगिनि हूँ, घर मे झाड़ू बुहारू देती रहती हूँ।"

तब द्रौपदीजी मित्रविन्दा से बोलीं—"बहिन! तुम भी अपने विवाह का समाचार सुनाओ।"

मित्रविन्दा ने कहा—"जीजी! मैं क्या सुनाऊँ। मेरे भाई तो नहीं चाहते थे, मैं श्यामसुन्दर को वरूँ। उनकी इच्छा मुझे दुर्योधन को देने की थी। इसी उद्देश्य से मेरा बनावटी स्वयंवर रचा गया। मैं चाहती थी, किसी प्रकार मुझे श्यामसुन्दर मिलें। मेरे भाव को जानकर भगवान् अकस्मात् स्वयंवर में आ टपके और सियारों के बीच से जैसे सिंह अपना भाग लेकर चला जाता है, वैसे ही ये स्वयंवर मे आये समस्त राजाओं को तथा मेरे भाइयों को जीतकर मुझे लेकर द्वारकापुरी मे आ गये। वहाँ मेरे साथ विधिवत् विवाह कर लिया। अब मैं भगवान् के चरण धोने का कैंकर्य नित करती हूँ और इन अखिलेश्वर से यही माँगती रहती हूँ कि यह कैंकर्य मुझे जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त होता रहे।"

यह सुनकर द्रौपदी जी बोलीं—"सत्या बहिन तुम भी अपने ब्याह की कथा सुनाओ।"

सत्या बोलीं—"अरी जीजी! मेरे विवाह की क्या सुनोगी। मेरे पिता ने बड़े मरखने, बड़े हृष्ट पुष्ट, बड़े तीखे सींगों वाले सात साड़ राजाओं के पुरुषार्थ की परीक्षा के लिये पाल रखे थे। उन्होंने प्रतीज्ञा की था—"जो इन सातों बैलों को पकड़कर नाथ देगा, उसके साथ मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा।"

भगवान् ने भी यह बात सुनी, मेरा आन्तरिक भाव भी समझ गये। व्रज मे ये बैल नाथना सीख ही चुके थे। तुरन्त सातों को बडे वेग से पकड़कर एक साथ ही नाथ दिया और बकरी के बच्चों की भॉति उन्हे बाँध दिया। उनके लिये यह खेल था। साधारण क्रीडा थी। हँसी-हँसी मे बिना प्रयास के उन्होंने यह सब कर दिया। बीच मे कुछ राजाओं ने विघ्न डाला। उन्हें भी मारकर चतुरङ्गिनी सेना सहित और पिता के दिये दहेज सहित मुझे अपनी पुरी मे ले आये। तभी से मैं इनके चरणों की सेवा करती हूँ। और सब तो रानियाँ हैं मैं तो एक तुच्छ दासी हूँ और यही इनसे प्रार्थना करती हूँ कि जन्म जन्मान्तरों मे यही दास्य भाव मुझे प्राप्त होता रहे।"

तब द्रौपदीजी ने भद्रा से कहा—"बहिन ! तुम्हे भगवान् कैसे छीन झपट कर लाये।"

हँसकर भद्रा बोली—"जीजी ! मेरे लिये भगवान् को छीन झपट नहीं करनी पड़ी। मैं तो इनकी फूआ की लड़की हूँ न। मेरा इनमे अत्यन्त अनुराग हो गया था। मेरे पिता ने सोचा— "कोई बात नहीं लडकी घर की घर में ही रह जावे। अतः उन्होंने इन्हे बुलाकर मुझे विधिवत् दे दिया। साथ में अक्षौहिणी सेना तथा बहुत-सी दास दासियाँ और अन्य भी दहेज की वस्तुएँ दीं। अब मुझे इनके चरण स्पर्श का नित्य ही सौभाग्य प्राप्त होता है और यही इनसे मनाती हूँ कि जन्म जन्मान्तरों में मुझे ऐसा ही सौभाग्य सदा प्राप्त होता रहे। जीव का इसी मे कल्याण है, यही परम पुरुपार्थ है, यही श्रेय है, यही प्राप्य स्थान है।"

द्रौपदीजी ने कहा—"लक्ष्मणा बहिन ! तुमने मेरे विवाह की बात पूछी थी, अब तुम भी अपने विवाह की बात बताओ। ... की तरह संक्षेप मे न कहना, लज्जा भी न करना, तुम ...

हृदया जान पड़ती हो। विस्तार के साथ प्रांजल भाषा में साहित्यिक ढङ्ग से सुनाना।"

यह सुनकर लक्ष्मणा हँसी और बोली—"जीजी! अपने विवाह की बातें ऐसे सुनानी तो न चाहिये, किन्तु जब आपका आग्रह ही है, तो सुनाती हूँ सुनो। देवि! मेरे घर में बार-बार नारद मुनि आया करते थे। मैं अपने पिता की अत्यन्त ही प्यारी दुलारी कुमारी थी। मुझे वे नयन की पुतलियों की भाँति रखते। सदा गोदी में लिये रहते। यहाँ तक की राज दरबार में भी मैं उनकी गोदी में बैठी रहती। देवर्षि भगवान् नारद जब-जब भी आते तभी तब वे भगवान् के दिव्य जन्म और अलौकिक कर्मों का ही गुणगान करते। वे गीत भी उनके सम्बन्ध के गाते। जब वे भगवान् के गुणों का वर्णन करने लगते तो तन्मय हो जाते, अधीर हो जाते और अपने शरीर की सुधि बुधि तक भूल जाते। मैं अबोध बालिका थी, न जाने क्यों मुझे नारदजी के मुख से भगवान् के चरित्र बड़े ही मधुर प्रतीत होने लगे। मेरे मन में बारम्बार यह प्रश्न उठता—"भगवान् श्रीनिवास कितने सुन्दर होंगे, कैसे वे मनोज्ञ होंगे। मुझे किस प्रकार उनके दर्शन होंगे।" इन बातों को सोचते-सोचते मैं तन्मय हो जाती। अब शनैः-शनैः मेरा मदनमोहन के प्रति अनुराग बढ़ने लगा। चित्त में एक प्रकार की तड़पन होने लगी। मैं निरंतर सोचती रहती—"लक्ष्मी निवास क्या मुझे अपनावेंगे, क्या मुझे वे अपने चरणों की दासी बनावेंगे, क्या वे मेरी चिरकाल की साध को पूरी करेंगे। जीजी! अधिक क्या कहूँ, तुमसे क्या सकोच मेरा चित्त भगवान् वासुदेव में आसक्त हो गया।"

मेरे पूज्य पिताजी तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते ही थे। सखियों द्वारा मेरे मन का भाव मेरी माता को विदित हुआ। माता ने पिताजी से कह दिया। मेरे पिता महाराज बृहत्-

सेन सोच में पड़ गये उन्होंने एक उपाय रचा। उन्होंने सोचा—
"वैसे मैं अपनी पुत्री का विवाह भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के साथ कर दूँ तो न इसमें मेरी प्रतिष्ठा है न उनकी। अतः मैं अपनी प्यारी पुत्री को वीर्य शुल्का घोषित करके स्वयम्वर रचूँ। जो राजा मेरे पण को पूर्ण कर देगा, वीर्य के शुल्क को चुका देगा, वही मेरी पुत्री का पति होगा। यह तो निश्चय ही है कि भगवान् श्यामसुन्दर बल और वीर्य में सबसे श्रेष्ठ है। उनके लिये कोई कार्य असम्भव नहीं। इस प्रकार वे सब राजाओं के समक्ष वीर्य का शुल्क चुकाकर मुझे वरण करेंगे, तो उनके सुयश का विस्तार होगा, मेरी पुत्री की ख्याति होगी और हम ज्ञाति वालों का भी गौरव बढ़ेगा।" यही सब सोचकर मेरे पिता ने वही उपाय रचा जो तुम्हारे पिता ने तुम्हारे स्वयवर मे अर्जुनजी की प्राप्ति के निमित्त रचा था। जिस प्रकार तुम्हारे पिता ने मत्स्य वेध का आयोजन किया था, वैसा ही आयोजन मेरे पिता ने किया। मेरे पिता ने एक उससे भी अधिक विशेषता कर दी। तुम्हारे स्वययम्वर मे तो यह था कि एक खम्भा गडा था उस पर एक घूमने वाला यन्त्र था उस घूमने वाले यन्त्र में एक मछली टँगी थी। यह मछली यन्त्र के साथ घूम रही थी। उस घूमती हुई मछली का वेधन था। यह बड़ा कठिन काम था, घूमती हुई मछली पर लक्ष्य जमा कर उसे वेधना। आपके यहाँ की मछली खुली हुई थी, मेरे पिता ने यन्त्र तो वैसा ही बनवाया, वैसी ही उस पर मछली टाँगी, किन्तु उसे बाहर से ढक दिया था। केवल जल में उसका प्रतिबिम्ब दीखता था। प्रतिबिम्ब को देखकर ढकी हुई घूमती हुई मछली के सिर को काटना था। यह सामान्य कार्य नहीं था, किंतु मेरे पूजनीय पिताजी को विश्वास था कि श्यामसुन्दर इस लक्ष्य को अवश्य वेध देंगे। इसी हेतु उन्होंने समस्त राजाओं को निमन्त्रण पठाया।

मेरे स्वयम्वर का सुखद समाचार सुनकर सभी दिशाओं से सेना और शस्त्रों से सुसज्जित सहस्रों नरपतिगण मेरे पिता की पुण्य पुरी में पुरोहितों के सहित पधारने लगे। देवि! उस समय राजा और राजकुमारों का वहाँ बड़ा जमघट हुआ था। चारों ओर अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक ही सैनिक दिखाई दे रहे थे। तुरहियाँ बज रहीं थीं, अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं। मंगल गीत गाये जा रहे थे। मुझसे प्रथम मेरे पिता की पुरी सजाई गयी थी। माना उसका भी विवाह होगा। उस समय इतने बाजे बजते थे, कि लोग संकेतों से बातें करते थे। मेरे पिता उन दिनों बड़े व्यस्त रहते थे। उन्हें प्रतिक्षण यही चिन्ता बनी रहती थी, कि आगत राजाओं के स्वागत सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि न रहने पावें। आगन्तुकों की मान मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा तथा आयु बल के अनुरूप ही आतिथ्य हो। जितने राजा आये थे, सभी मुझे प्राप्त करना चाहते थे। सभी सोचते थे, राजकुमारी हमें ही मिलेगी, किन्तु उनमें से मैं किसी की ओर फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहती थी। मेरे मन में तो मदनमोहन की मन मोहिनी मनोहर मूरति बसी थी। मैं तो निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करती रहती, उन्हीं की टोह लगाती रहती, कि वे मेरे चित को चुराने वाले चितचोर आये या नहीं।

जीजी! बात बढ़ाने से क्या लाभ स्वयम्वर की नियत तिथि आ गयी। उस दिन श्यामसुन्दर भी आ गये, मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं था। हृदय धक धक कर रहा था। आशा निराशा के बीच में मैं झोटे से खा रही थी। प्रेम में सदा शंका बनी रहती है। वर्षों साथ रहने पर भी मन में पूर्ण विश्वास नहीं होता, वे मुझे हृदय से चाहते हैं या नहीं फिर मैंने तो अभी श्यामसुन्दर के दर्शन भी नहीं किये थे। मेरे मन में विचारों का बवंडर उठ रहा था। सङ्कल्पों का सतत संघर्ष हो रहा था। हृदय सागर में तीव्र

हिलोरें आ रहीं थीं। उस समय की मेरी दशा अवर्णनीय थी।

स्वयम्वर मंडप अत्यंत ही कलापूर्ण ढंग से सजाया गया था। सुन्दर से सुन्दर सिंहासन उसमें विछाये गये थे। सबो पर आगत राजाओं के नाम लिखे थे, सभी यथा समय सज-बजकर अपने-अपने सिंहासन पर बैठ गये। मत्स्यवेध के स्थान में धनुप और बहुत से बाण रखे थे। क्रमानुसार राजा उठ-उठकर लक्ष्य वेध के लिये प्रयत्न करने लगे। किन्हीं पर तो धनुप ही न उठा किन्हीं ने धनुप तो उठा लिया किन्तु प्रत्यञ्चा चढ़ाने में अपने को असमर्थ पाकर वे अपने स्थान को लौट गये। कुछ राजा बलपूर्वक डोरी को खींचकर दूसरे सिरे तक ले तो गये थे, किन्तु सिरे में बाँधते समय उनके हाथ से डोरी छूट गयी और उसकी आघात से चारों कोने चित्त गिर पड़े। पीछे चेत होने पर वस्त्रों को झाड़ते हुए खिसियाये हुए अपने आसन पर जा बैठे। दूसरे राजा गण हँस रहे थे, वे लज्जा के कारण किसी से आँखें नहीं मिलाते थे। अब वे राजा उठे जिन्हे अपने बल वीर्य का बड़ा अभिमान था। उनमें दुर्योधन, कर्ण, जरासन्ध, शिशुपाल, तुम्हारे दूसरे पति भीमसेन तथा अम्बष्ठ आदि मुख्य थे। इन जगत् प्रसिद्ध वीरो ने बड़े लाघव से धनुप पर डोरी चढ़ा ली, उस पर बाण भी चढ़ाया, किन्तु जल मे परछाई देखकर ज्यों ही बाण छोड़ा त्यों ही लक्ष्य की स्थिति न जानने के कारण वह लक्ष्य को चूककर अन्यत्र लगा।

सबसे पीछे तुम्हारे तीसरे पति अर्जुन उठे। सब को आशा थी, ये लक्ष्य को अवश्य वेध देंगे। मैं भी अत्यत उत्सुकता के साथ सखियों के बीच में बैठी झरोखे से देख रही थी। मुझे भी भय हो रहा था, कि कहीं उन्होंने लक्ष्य भेद दिया तो सब गुड़ गोबर हो जायगा।"

हँसते हुए द्रौपदी जी ने कहा—"गुड गोबर क्या हो जाता,

वे वेध देते तो तुम मेरी सौत हो जाती क्यों तुम्हें गांडीवधारी मेरे पति अच्छे नहीं लगे ?"

शीघ्रता से लक्ष्मणा बोली—"अच्छे लगने न लगने की बात नहीं है जीजी ! संसार में न कोई अच्छा है न बुरा। अच्छाई बुराई तो हमारे मन के ऊपर है, जिसे हम अच्छा कहती हैं, दूसरे उससे घृणा करते हैं, जो हमें अत्यन्त बुरा लगता है, जिसे हम फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहते दूसरे उसके ऊपर प्राण देने को तत्पर हो जाते हैं। मन ने जिसे अच्छा मान लिया वह अच्छा है ग्राह्य है। उसके अतिरिक्त चाहे कोई कितना भी अच्छा हो वह उसके लिये बुरा है। विष के कीड़ा को विष ही अच्छा लगता है। पपीहा स्वाति की बूँद को छोड़कर अमृत की ओर भी नहीं देखता चकोरी चन्द्रमा को ही निहारती रहती है। यद्यपि वह जानती है, चन्द्रमा बहुत दूर है, कहाँ चन्द्रमा और कहाँ मैं, किन्तु प्रेमी छुटाई-बड़ाई का व्यवधान नहीं देखता। वह तो सभी उपायों से अपने प्रेष्ठ से मिलना चाहता है। देखो, चकोरी को जब चन्द्र को सम्मुख देखते हुए भी उसे प्राप्त नहीं करती तब स्मशान में जाकर जलती हुई चिताओं में से अग्नि ले-लेकर खाने लगती है स्मशान में इसलिये खाती है, कि अग्नि खाने से यहीं भस्म हो जाऊँगी। सुनती हूँ स्मशान की भस्म को शिवजी अपने शरीर में लगाते हैं और शिवजी के मस्तक पर चन्द्रमा रहते हैं, तो सम्भव है भस्म बनकर भी मैं अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकूँ।"

यह सुनकर हँसती हुई द्रौपदीजी बोलीं—"तुम तो सचमुच कविता करने लगीं। अच्छा, कृष्णचन्द्र की चकोरी ! हाँ, हाँ अपने स्वयम्बर की आगे की बात सुनाओ। मेरे पति पर लक्ष्य वेध नहीं हुआ, इसे मैं मान लेती हूँ, आगे कहो क्या हुआ ! कैसे उदय हुए तुम्हारे चन्द्र !"

हँसकर लक्ष्मणा बोली—"नहीं, नहीं तुम्हारे पति ने बड़ी बुद्धिमत्ता से बाण चढाया। जल में मछली की परछाईं देखकर लक्ष्य की स्थिति भी भली-भाँति समझ ली। बाण भी बड़ी सावधानी से छोड़ा। लक्ष्य में लगा भी किन्तु उसे स्पर्श करता हुआ आगे निकल गया। वे उसे वेध न सके।

अब जब सब श्रान्त हो गये, फिर कोई उठा ही नहीं। तब हँसते हुए अल्हडपने से श्यामसुन्दर उठे। उनकी हँसी विश्व विमोहक थी। मैं सम्हलकर बैठ गयी। मेरा शरीर काँप रहा था, उसमें से पसीना निकल रहा था। बार-बार मैं अपनी बिथुरी अलकावली को सम्हाल रही थी। सखियाँ मेरी इस दशा पर मन ही मन हँस रही थीं वे सैनों ही सैनों में परस्पर कुछ कह रही थीं। मेरा उनकी ओर ध्यान ही नहीं था, मैं माधव के मधुर मुख-मकरन्द को भ्रमरी बनी अव्यग्रभाव से पान कर रही थी। अभिमानी राजा मन ही मन जल रहे थे। मेरे हितैषियों के मुख-कमल खिल रहे थे। श्यामसुन्दर के काले काले घुँघराले बाल हिल रहे थे। सूर्य अभिजित नक्षत्र से मिल रहे थे। मदनमोहन ने बिना प्रयास के लीला से ही धनुष को उठा लिया, उसपर बाण चढ़ा दिया क्षणभर में लक्ष्य का निर्णय किया और तककर तीर चला ही तो दिया। तीर के लगते ही लक्ष्य कटकर भूमि पर गिर गया। लक्ष्य वेध होते ही सबके मुख से एक साथ ही निकल पड़ा—"जय हो, जय हो!" आकाश में देवगण दुन्दुभी बजाने लगे। पारिजात के पुष्पों की वृष्टि होने लगी। सर्वत्र हर्ष उल्लास और उत्साह छा गया। मेरी उस समय क्या दशा थी, दीदी! वह कही नहीं जा सकती। ऐसे विषय कहे नहीं जा सकते, उनका अनुभव ही होता है।

मेरी सखियों ने मेरा शृङ्गार किया। अति सुन्दर नूतन कोरे दो रेशमी वस्त्र मुझे पहिनाये गये। मेरी चोटी अत्यन्त कलापूर्ण

ढग से थॉगी गयी, उसमें रग-बिरगे पुष्प, दिव्य सुगन्धित सुमनों की सुन्दर मालायें लगायी गई। सखियों ने मुझे सब प्रकार से सजाकर, सोलह शृङ्गार करके मडप मे ले जाने योग्य बना दिया। मेरा मन बॉसो उछल रहा था, उसे मैं हाथों से दबा दबाकर उछलने से मना कर रहा था। आँखो मे लज्जादेवी ने अधिकार जमा लिया। मुख पर आकर मन्द-मन्द मुसकान छिटकने लगी। मैं सखियां स घिरी हुई, हाथ म सुवर्ण से दमकती मणिमयी विजय माला लिये हुए अपने चरणों क नूपुर से पथ को मुखरित करती हुई, पराजित नृपतियो के मन मे क्षोभ ग्लानि और ईर्ष्या को उप जाती हुई, लजाती, सकुचाती, सिहाती, हिय हुलसाती, माला को हिलाती रङ्गशाला की ओर चल दी।

मेरे नयन उडना चाहते थे, किन्तु मुख ऊपर उठना ही नहीं चाहता था। सखियों की सहायता से श्यामसुन्दर के सुन्दर सिंहासन के समीप में कब पहुँच गयी, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं। मेरे मुख पर मेरे कानो मे पडे कुण्डलों की कमनीय कान्ति छिटक रही थी, उसे हरने को मेरे कुटिल केश हिल हिलकर उस ओर आ रहे थे। मैं शीघ्रता से उन्हे हाथा से वरज देती, किन्तु वे पुनः लटक जाते, हिलने लगते। मेरी एक मुँह लगी सखी ने चुपके से मुझे नोच लिया। तिलमिलाकर ज्यों ही मैंने कपोलों की कान्ति से युक्त अपना मनोहर मुख ऊपर उठाया उस सखी को वरजने के मिससे शरच्चन्द्रिका के समान सुमधुर हास्ययुक्त कटाक्षभगी से ज्यों ही सिंहासनो पर बैठे हुए समस्त राजाओं की ओर एक विहगम दृष्टि डाली, त्यो ही मुझे सम्मुख विराजमान वनवारी दिखायी दिये। उन्हे देखत ही मेरा चित्त अनुराग से परिसिञ्चित हो उठा। मेरे दोनों हाथ स्वतः ही ऊपर उठ गये। उनके शङ्ख के समान कठ वाले अशो के बीच में मेरे हाथ की माला कब पड गयी, इसका मुझे कुछ पता ही न चला। मुझे पता तो तब चला

जब सहसा एक साथ मृदङ्ग, पणव, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि असंख्यों मङ्गल वाद्य बजने लगे। नट-नर्तक अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करने लगे। नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं, गायक गाने लगे और सूत मागध-बन्दी स्तुति-पाठ करने लगे। मैंने आँख भरकर श्यामसुन्दर को देखा। उन्होंने भी अपनी बडी-बडी विशाल कमल के सदृश अनुराग भरी आँखों से मुझे निहारा। चार आँखें होते ही मेरी दृष्टि अपने आप झुक गयी। मैं फिर उन्हें देखना ही चाहती थी कि राजसभा मे बडा भारी हुल्लड मचा। "देखो, सावधान! सावधान! राजकुमारी को पकड लो, गोपाल राजकुमारी को ले जाने न पावे।" इस प्रकार बहुत से बक रहे थे, बहुत से दौड रहे थे। कई राजा तो मेरे समीप आ गये। वे मुझे उठाना ही चाहते थे। मैं काठ की पुतली बनी वहाँ खडी थी, डर रही थी, कुछ निर्णय ही न कर सकी क्या करूँ मुझे भयभीत होते देखकर श्यामसुन्दर तुरन्त चतुर्भुज बन गये। मेरे सम्मुख ही कमलनाल के सदृश उनकी दो विशाल भुजाएँ और निकल आयीं। उन्होंने तुरन्त दो भुजाओं से तो मुझे उठाकर अपने उत्तम चार घोडों वाले रथ मे बिठाया और दो हाथों में धनुष बाण लेकर मुझे पकड़ने वाले राजाओं को रोका।

मुझे सान्त्वना देने के निमित्त दो हाथों से तो मुझे पकडे हुए थे, दो हाथों मे धनुष बाण लेकर युद्ध के लिये उद्यत थे। उन्होंने तुरत अपने सारथी को संकेत किया। महा बुद्धिमान् दारुक सारथी ने संकेत पाते ही भगवान् का वह सुवर्णमंडित गरुड की ध्वजा वाला विशाल रथ हाँक दिया। ग्रामसिंह जैसे दौड़कर सिंह को रोकना चाहते हैं उसी प्रकार बहुत से नृपतिगण अस्त्र शस्त्र लेकर श्यामसुन्दर के रथ के पीछे दौडे, जीजी! मैं क्या कहूँ, उनकी चतुरता। वे हँस रहे थे और साथ ही बाणों को भी छोड़

रहे थे। उन अमोघ वाणों से किसी के हाथ कट गये, किसी के पैर कट गये। किसी के सिर धड से पृथक हो गये। इनके वाण तो सबके लगते थे, किन्तु उन राजाओं का एक भी वाण इनके शरीर को नहीं छूता था। कवच धारण किये शार्ङ्ग धनुष से उसी प्रकार वाण छोड रहे थे, मानो इन्द्र श्रावण भादों मास मे वर्षा कर रहे हों। वे अभागे नृपतिगण अधिक पीड़ा न कर सके कुछ ही क्षण में तितर बितर हो गये, रण छोड़कर भाग गये।

रथ अपने पूरे वेग से दौड रहा था, जिस प्रकार रथ मार्ग के वृक्षों को छोडता जाता था उसी प्रकार मैं भी अपनी पूर्व स्मृतियों को छोडती जाती थी। उसी समय मुझे दूर से द्वारकापुरी के ऊँचे-ऊँचे सुवर्ण मंडित भवनों पर लगी हुई ध्वजाएँ दिखाई दीं। मेरा मन मयूर नृत्य कर रहा था। श्यामसुन्दर के सङ्ग रथ में बैठे हुए मुझे कैसा लग रहा था, उसे कैसे कहूँ जीजी! तुम ही समझ लो। जैसे सायंकाल के समय सविता अस्ताचल में प्रवेश करते हैं वैसे ही द्वारकानाथ ने अपनी त्रिभुवन प्रशंसित पुरी में प्रवेश किया। हम सब द्वारका मे आ गये। मैं दासियों से घिरी एक भव्य भवन मे ठहरायी गयी। श्यामसुन्दर ने फिर मेरा स्पर्श भी न किया। वह रात मैंने कैसी विकलता से बिताई उसे मैं ही जानती हूँ।

दूसरे दिन क्या देखती हूँ, मेरे पूजनीय पिता, भाई, सुहृद, सम्बन्धी तथा अन्यान्य कुटुम्बी सब द्वारावती में आ गये हैं। इधर मेरे भाई बन्धु तो मुझे सजा रहे थे और समस्त यादव मिलकर द्वारावती को सजा रहे थे। उसमें इतनी रङ्ग बिरङ्गी छोटी बडी, विचित्र प्रकार की ध्वजा, पताका तथा वन्दनवारें लगायी गयी थीं कि उनकी ओट में सूर्यनारायण भी दिखायी नहीं देते थे। पुरी के सम्पूर्ण पथ परिष्कृत किये गये, वे सभी आनन्द मे विभोर होकर महोत्सव मना रहे थे। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने विधिवत मेरा विहारी के साथ विवाह कराया। मेरे पिता ने नाना

प्रकार के अमूल्य वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन, पात्र और अन्य गृहस्थोपयोगी वस्तुएँ दहेज में दीं। नाना प्रकार की अनुनय विनय करके भगवान् का सम्मान किया। पिता की मैं अत्यन्त प्यारी थी। पिता प्रभु के हाथ में मेरा हाथ देकर ऐसे प्रसन्न हो गये थे मानों मुझे कितनी अमूल्य निधि मिल गयी। उन्होंने सेवा करने के लिये सहस्रों सुन्दरी युवती दासियाँ, सब प्रकार की सुख सम्पत्ति, हाथी घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा, रथ तथा पालकी आदि मेरे विवाह के उपलक्ष्य में दीं। मैं अब उनकी पत्नी बन गयी, वे मेरे स्वामी हो गये। बराती अपने-अपने घर चले गये। दो दिन का धूम धड़का समाप्त हुआ, किन्तु हमारा प्रेम समाप्त नहीं हुआ वह दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही गया। जीजी! मुझे अपने सौभाग्य पर गर्व है। भगवान् ने जैसी मेरी सुनी वसी वे सबकी सुनें। भगवान् को पति पाना कोई साधारण पुण्य का फल नहीं है। हम सब बहिनों ने पूर्व जन्मों में अवश्य ही कोई घोर तप किया होगा, कोई बड़ा भारी अनुष्ठान व्रत या पुण्यकर्म किया होगा, उसी के प्रभाव से तो हम इन आत्माराम, आप्तकाम, सच्चिदानन्दघन भगवान श्यामसुन्दर की चरण दासियाँ बन सकीं। जीजी! मैं कुछ पढ़ी लिखी नहीं हूँ, कहने में जो भूल चूक रह गयी हो उसे अपनी छोटी बहिन समझकर क्षमा कर देना।"

यह सुनकर द्रौपदीजी बोलीं—"बहिन! तू तो बड़ी पंडिता निकली। तैंने तो बड़ी सरस ढँग से अपने विवाह की कहानी सुनायी। भगवान् करें सबका सुहाग अचल बना रहे।"

फिर द्रौपदीजी सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों की ओर देखकर बोलीं—"बहिनाओ! तुम भी अपने विवाहों का वृत्तान्त सुनाओ।"

यह सुनकर उनमें जो सबसे बड़ी रोहिणी थी वह बोली— "जीजी! हम सबका वृत्तान्त पृथक्-पृथक् नहीं है। सबका एक ही

वृत्तान्त है। हम सबसे विवाह भगवान ने एक साथ ही किया। बात यह थी भौमासुर पृथ्वीपुत्र बड़ा बली असुर था। वह हम सबको हमारे पिताओं को हरा-हराकर ले आया था। वह चाहता था जब बहुत हो जायँ तो सबसे एक साथ ही विवाह करें। यह सब समाचार सुनकर श्यामसुन्दर उसके पुर में गये। उसे मार कर वे हमारे समीप गये। हम सबकी इच्छा जानकर पूर्णकाम होने पर भी इन सबको अपना लिया। हमारा पाणिग्रहण करके हमें अपने चरणों की सेवा प्रदान की। देवि! हम साम्राज्य, इन्द्र पद, अथवा अन्य दिव्यलोकों के भोग कुछ भी नहीं चाहतीं। हमारी इच्छा अणिमा, महिमा, गरिमा तथा लघिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करने की नहीं है और न हम ऐश्वर्य, ब्रह्मपद, सालोक्य, सारूप्य, समीप्य आदि मोक्ष ही चाहती हैं। हम तो इन लक्ष्मी निवास के उन पादपद्मों की पराग को ही चाहती हैं जो लक्ष्मीजी के हृदय के केशर का कीच में पीली हो गयी है वही पुनीत पराग हमें मिल जाय और उसे हम अपने मस्तकों पर धारण कर सकें, तो हमारा जीवन सफल हो जाय।"

हम अन्य कुछ भी नहीं चाहतीं। जिन चरणों से हमारे स्वामी ब्रज में गौओं के पीछे पीछे डोले हैं जिसकी इच्छा गोपगण, ब्रजाङ्गनायें भीलिनियाँ, दूबों अथवा लतायें किया करती हैं वही चरणरज हमें मिल जाय। जाजी! और हम क्या कहें, ऐसा आशीर्वाद आप हमें दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर द्रौपदीजी अत्यन्त प्रसन्न हुई और वे भगवान की पत्नियों के भाग्य की सराहना करने लगीं। यद्यपि जब द्रौपदीजी की और श्रीकृष्ण पत्नियों की बातें हुई थीं, तब कोई बड़ी बूढ़ी स्त्री वहाँ नहीं थी, किन्तु भगवान् के विवाह की कथा सुनकर कुन्तीजी, गान्धारीजी, सुभद्रा तथा अन्य राजपत्नियाँ भी वहाँ आ गयीं। ब्रज की गोपिकायें भी आकर

बैठ गयीं। रुक्मिणी आदि भगवान् की सभी पत्नियों का सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा श्यामसुन्दर में ऐसा प्रेमबन्धन देखकर सबकी सब परम विस्मित हुईं। प्रेम के कारण उनके नेत्रों से नेह का नीर निकलने लगा और सभी प्रभुपत्नियों के प्रेम की पुनः पुनः प्रशंसा करने लगीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी आपने भीतर स्त्रियों की बातें तो सुनायीं, अब कुछ बाहर पुरुषों की भी सुनाइये। पांडवों तथा अन्य राजाओं से भगवान् की क्या बातें हुईं। भगवान् के दर्शनों को राजागण ही आये या कोई ऋषि मुनि भी आये थे।"

सूतजी बोले—"महाराज! मुझसे तो आप भीतर बाहर की जो भी बात पूछेंगे उसे ही अपने गुरुदेव भगवान् शुक की कृपा से मैं बताऊँगा। भगवान् के दर्शनों को भी सभी छोटे-बड़े आते थे। बहुत से ऋषि मुनि भी आये थे कहिये तो अब अन्तःपुर की बात समाप्त करके बाहर की ही बातें सुनाऊँ?"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! अब ऋषियों की ही राजाओं से या भगवान् से जो बातें हुई हों उन्हें ही सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज। अब मैं आपको व्यासादि मुनियों से जैसे भगवान् वासुदेवजी की कुरुक्षेत्र में बातें हुईं उन्हें ही सुनाता हूँ, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

मद्राने संक्षेप माहिँ सब बात बताई।
परम सरसतायुक्त लक्ष्मणा कथा सुनाई॥
पुनि जो सोलह सहस अधिक शत प्रभुकी पतिनी।
कही सबनि इक संग कथा करुनामय अपनी॥
हरि पत्निनि अनुराग लखि, सब अति आनंदित भईं।
भाग्य सराहत सबनिके, सब निज निज डेरनि गईं॥

"आगे की कथा ५१ वें खण्ड में पढ़ें"

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

[छप्पय छन्दों में]

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दो मे श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी सक्षेप मे दी गई है।

सत्यनारायण भगवान् की महिमा अपार है। ससार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही ससार मे सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह ससार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते हैं। कलिकाल मे सत्यनारायण व्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिय सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

भक्तो के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दो मे लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पृष्ठ सख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।